योगांकुर

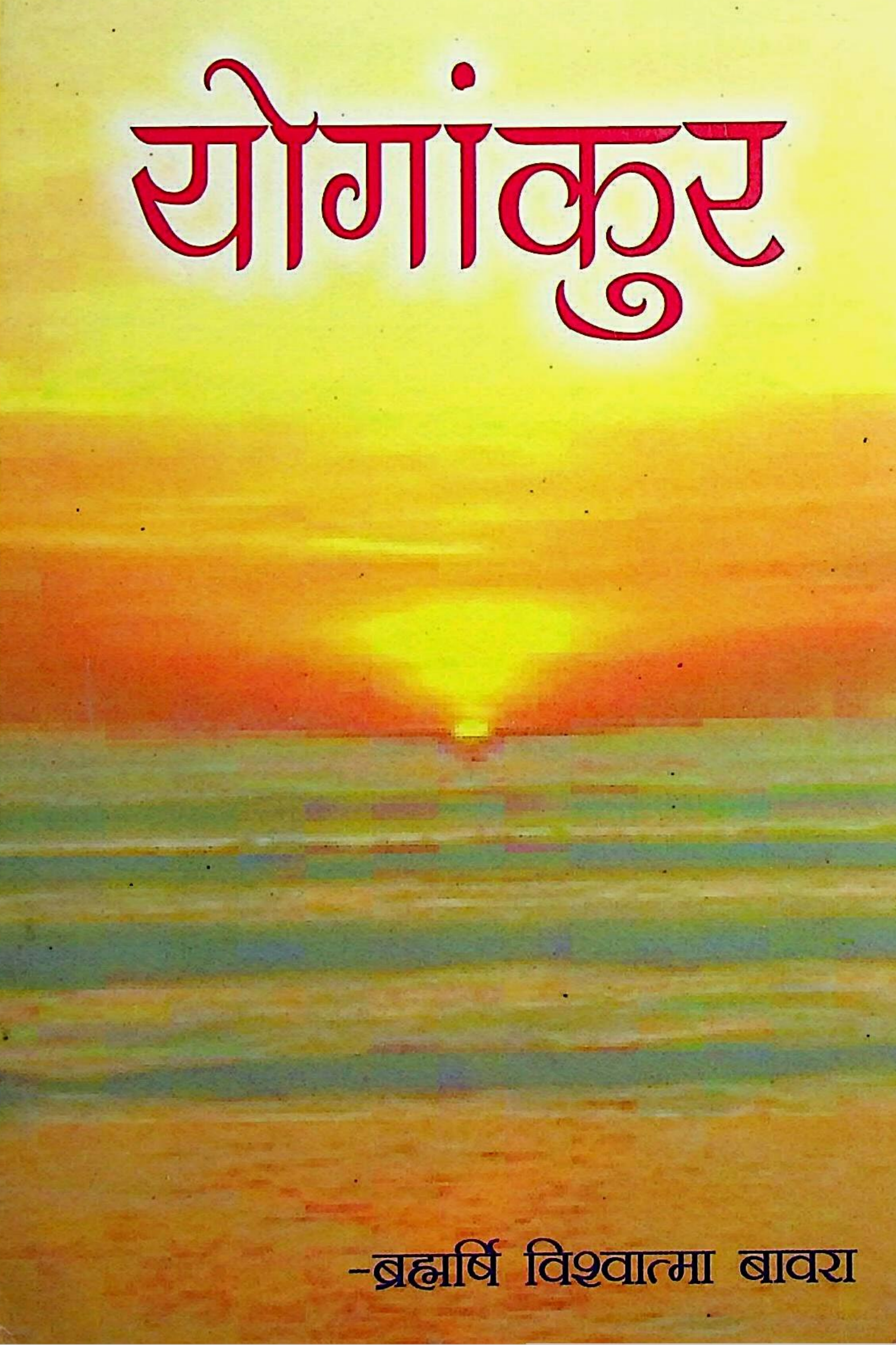

-ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

योगांकुर

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन

ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर

पिंजौर (हरियाणा)-१३४१०२

प्रकाशक :
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
फोन : ०१७३३-६५१७०

© लेखकाधीन

संकलन : स्वामी आदित्य भारती परिव्राजिका

सम्पादन : स्वामी ब्रह्मऋता परिव्राजिका

द्वितीय संस्करण : नवम्बर १९९८

प्रतियाँ : २१००

मूल्य : ५०/-

मुद्रक :
ब्रह्मर्षि बावरा प्रिन्टिंग प्रैस
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट् नगर, पिंजौर

पूज्य आचार्यश्री का आशीर्वचन

प्रतिवर्ष की भाँति ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर में सन् १९८८ में योग साधना शिविर का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न स्थानों से बहुसंख्या में आए हुए जिज्ञासु साधकों ने भाग लिया। आश्रम के प्रशान्त वातावरण में साधना शिविर में भाग लेने वाले जिज्ञासु साधकों को नित्यप्रति महर्षि पतंजलि द्वारा प्रदर्शित राजयोग की सिद्धि के लिए साधन पथ पर अग्रसर होने की विधि का अवबोधन कराया जाता था। योगदर्शन के सूत्रों की व्याख्या के साथ ही अनुभूत क्रियाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। शिविर में भाग लेने वाले साधकों के लिए वे कितनी उपयोगी सिद्ध हुई हैं, यह तो वे ही जानते हैं। शिविर में दिए गए विचारों को मेरी प्रिय शिष्या आदित्य भारती ने संकलित कर इसे पुस्तक का रूप प्रदान किया है जिसके द्वारा अनेकों जिज्ञासुजन जो उस शिविर में उपस्थित नहीं थे, वे भी लाभान्वित हो सकेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। यद्यपि यह संकलन दिव्यालोक में क्रमशः प्रकाशित किया गया है फिर भी उसे पुस्तक के रूप में एक साथ पढ़ने और मनन करने से साधकों को अधिक लाभ हो सकेगा क्योंकि इससे विचारों की शृंखला क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होगी तथा वे लोग जो दिव्यालोक के पाठक नहीं हैं, वे भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे।

विचार ही आचार का प्रेरक होता है और आचार ही मानव के व्यक्तित्त्व के निर्माण में कारण। अतः व्यक्तित्त्व के परिवर्तन में विचार परिवर्तन ही एकमात्र उपाय है। शिक्षा, साहित्य और सत्संग विचार प्राप्ति के ये ही तीन मुख्य स्रोत हैं। इनमें से भी शिक्षा और सत्संग की अपेक्षा साहित्य को ही स्थाई माना गया है। चेतना की उच्चतम अवस्था में स्थित हुए सत्पुरुषों के सन्निध्य में बैठकर उनके द्वारा शिक्षा और सत्संग से लाभान्वित होने का सुअवसर कुछ लोगों को कुछ काल तक ही प्राप्त हो

पाता है किन्तु उनके अनुभूत विचारों का संकलन जो साहित्य रूप में सुरक्षित हो जाता है, वह चिरकाल के लिए मानव जाति की अमूल्य निधि बन जाती है। ऐसे सद्साहित्य के प्रकाश में मानव समाज सहस्राब्धियों तक स्वयं के सर्वतोमुखी विकास की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करता रहता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सद्साहित्य सृजन का कार्य केवल वर्तमान के मानव समाज की ही नहीं अपितु मानव जाति की चिरकालिक श्रेष्ठतम सेवा का कार्य है। करुणानिधान प्रभु श्रीराम की करुणा से प्रेरित हो माँ सरस्वती किसी भाग्यशाली को स्वयं का वाहन बना इस प्रकार के अनुपम सेवा कार्य का सम्पादन कराती है।

अपने आराध्य के प्रति अखण्ड आस्था एवं अध्यवसाययुक्त अध्ययन ही व्यक्ति को माँ सरस्वती की अनुकम्पा का भाजन बनाता है और वही इस लोकोपकारी कार्य के सम्पादन में सक्षम हो पाता है। गीता की भाषा में आराध्य की अखण्ड स्मृति ही उसमें नित्य स्थिति का हेतु होती है। यह नित्य स्थिति ही योग शब्द से अभिहित की जाती है। योग ही सुबोध एवं सद्भाव का जनक है। सुबोध एवं सद्भाव ही अन्तरतम में नित्य शान्ति को प्रतिष्ठित कराता है। शान्त चित्त में ही सत्-असत् के यथार्थ विवेक का उदय होता है। असत् के त्याग एवं सत् के ग्रहण में निरत व्यक्ति ही हंस शब्द से अभिहित होता है। हंस ही माँ शारदा का वाहन बनता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रिय आदित्य भारती प्रभु श्रीराम की अनुकम्पा से स्वयं में योग, बोध, प्रेम को प्रतिष्ठित कर माँ सरस्वती की कृपा का भाजन बनकर इसी प्रकार के सद्विचारों को संग्रहित कर सद्साहित्य के सृजन में सदैव निरत रहेगी। इस लोकोपकारी कार्य की पूर्ति के लिए करुणामयी उसे अमित योग्यता प्रदान करें, यही मेरी नित्य की शुभाशीष।

संकलित सामग्री को सुन्दर पुस्तक रूप में सम्पादित कर पाठकों तक पहुँचाने का कार्य मेरी प्रिय शिष्या ब्रह्मऋता द्वारा सम्पन्न हुआ है। करुणानिधान प्रभु श्रीराम से मेरी प्रतिपल की प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार से उसे योग्यता एवं सामर्थ्य प्रदान करते रहें जिससे वह मानवोपयोगी सद्साहित्य की अभिवृद्धि में निरत रहते हुए उनके कृपाप्रसाद का भाजन बनी रहे।

यह लघु पुस्तिका साधकों की सम्बल बनेगी, इसी विश्वास के साथ सभी का शुभेच्छु—

—विश्वात्मा बावरा

दो शब्द

योग भारतवर्ष की अमूल्य सम्पत्ति है। समस्त विद्यायें योगाभ्यासजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा की ही देन हैं। योग का अर्थ केवल ईश्वर प्राप्ति नहीं अपितु आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवन का ऐसा उत्सर्ग व परिवर्तन है कि उसके द्वारा भगवत्चैतन्य व्यक्त हो। यही जीव का परम ध्येय है। जब तक जीव इस स्थिति में पहुँच नहीं जाता तब तक न तो उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकाव बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्द रूप तत्त्व के संयोग की अतृप्त और प्रच्छन्न आकांक्षा की पूर्ति ही।

वर्तमान में योग के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ समाज में प्रचलित हो गई हैं। योग का अर्थ उलटे टँगना व ऊपर-नीचे हाथ मारना नहीं है। आसन आदि योग के लिए शरीर की तैयारी है, पूर्ण योग नहीं। भारतीय वाङ्मय में 'योग' शब्द महान् अर्थ का अवबोधक है। पूर्णता की प्राप्ति का प्रयत्न जिस क्रिया के साथ जुड़ता है, उसी का नाम योग है। 'युजिर योगे' धातु के साथ 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न होने वाले 'योग' शब्द का अर्थ 'मेल' और 'करणे घञ्' लगाने पर उसका अर्थ मिलाने वाला होता है अर्थात् नर-नारायण संयोगरूपी लक्ष्य भी योग शब्द का अर्थ है और इन दोनों को एक करने वाली साधन सामग्री का नाम भी योग है।

दुःख का कारण अविद्या या अज्ञान है और यही समस्त क्लेशों की जड़ है। अज्ञानता के कारण ही इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि में बाह्य स्थूल विषयों के संसर्ग से मलिनता आ गई है, इसलिए उनमें स्थित जीव अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गया है। अविद्याग्रन्थि का जब तक सर्वभावेन तिरोभाव नहीं होता तब तक कितना भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, उसे पुनः संसार में जन्म लेकर जात्यायुर्भोगात्मक भोगों को भोगना ही पड़ेगा। इस अविद्याग्रन्थि का नाश कैसे हो, यही इस पुस्तक का

विवेच्य विषय है।

शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विवेचन करने पर साधकों की अभिरुचि व सामर्थ्य में जो अनन्त भेद होते हैं, उसके कारण साधन में भी अनेक प्रकार के भेदों का होना अवश्यम्भावी है। क्रियायोग, मन्त्रयोग, जपयोग, लययोग, शब्दयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग आदि-आदि जितने भी योग हैं, सभी साधक की चित्त अवस्था के आधार पर ही निर्धारित हुए हैं। क्रियायोग पर पूज्य आचार्यश्री द्वारा जो प्रवचन १९७९ में दिए गए थे, उनको 'सहज समाधि भली' पुस्तक के अंतर्गत संकलित किया गया था। योगदर्शन के साधनपाद के कुछ सूत्रों की व्याख्या ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर में २७-६-८१ से ४-७-८१ तक आयोजित योग साधना शिविर में पूज्यश्री द्वारा की गई थी। योगांकुर उन्हीं का संकलन है। आज से कई वर्ष पूर्व मैंने पूज्यश्री द्वारा विनिसृत इस अक्षय ज्ञानकोष का प्रथम प्रवचन 'योग और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' संकलित कर अपनी योग स्मारिका में दिया परन्तु शेष प्रवचन ऐसे ही रह गए। मेरे द्वारा छूटे इस अधूरे कार्य को प्रिय आदित्य भारती ने पूर्ण कर अभीप्सु साधकों की ज्ञान पिपासा को पूर्ण करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

गत वर्ष से यह पुस्तक हमारे प्रकाशन विभाग से समाप्त हो चुकी थी। योग के जिज्ञासु साधकों की निरन्तर माँग पर इस वर्ष इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे आशा है कि यह लघु पुस्तिका साधकों के लिए सम्बल तथा जिज्ञासुओं के लिए बोधप्रद सिद्ध होगी।

—ब्रह्मऋता

१

योग और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु का मंगलमय विधान आप सबके लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी शुभकामना है। वर्तमान में दुनिया के प्रत्येक देश में जीवन के सर्वतोमुखी विकास की अभिलाषा दिनों-दिन बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। जिन देशों को घोर भौतिकवादी समझते हैं, उनमें इसकी और भी तीव्र अभिलाषा और जिज्ञासा है। जीवन की एकांगी प्रगति से कोई भी समझदार व्यक्ति इस समय सन्तुष्ट नहीं इसलिए अपने अभाव को दूर करने की चाह लेकर वह कई प्रकार के प्रयत्न कर रहा है। दुनिया में इस समय योग का व्यापक प्रभाव है। पश्चिम के लोग भी समझ रहे हैं कि पूर्ण जीवन जीने के लिए जो कुछ विधा उन्हें दी गई है, वह अधूरी है। भारतीय तथा कुछ पश्चिमी विद्वानों के प्रयत्न से वे लोग यह समझ पाए हैं कि सर्वांगीण जीवन जीने के लिए यौगिक प्रणाली ही एक उत्तम विधा है। जिस विचारधारा का आजकल मैं पश्चिम में प्रचार कर रहा हूँ, वह है आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद। आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद का मूल दार्शनिक आधार सत्कार्यवाद है।

सत्कार्यवाद भारत का प्राचीनतम वाद है। वैदिक साहित्य से

लेकर वर्तमान तक इस सत्कार्यवाद से श्रेष्ठ अन्य किसी दर्शन का आविर्भाव नहीं हुआ है और इसे यदि मैं पूर्ण वैज्ञानिक दर्शन कहूँ तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है कि जो कुछ भी हम इस जगत में देख रहे हैं, वह सब दृष्य है, कार्य है, कारण नहीं। इन समस्त कार्यों के पीछे मूल में जो कारण है, वही परम सत्य है। उसे जाना जा सकता है, समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है लेकिन वह दृश्य रूप में देखा नहीं जा सकता, पदार्थ रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। किन्तु जो दृश्य है, ग्राह्य है, वह सब कुछ उसी का परिणाम होने से उससे तथा उसी में है। उस परम कार्य को जानने के लिए यह कार्य ही साधन है। साधन द्वारा साध्य को जानकर ही साधक स्वयं में स्थित हो आनन्दित होता है।

सत्कार्यवाद ने मनुष्य के समस्त जीवन का अनुसन्धान करके मूलतः दो तत्त्वों को स्वीकार किया है जिन्हें उसने प्रकृति और पुरुष कहा है। शरीर और शरीरी, जड़ और चेतन, आत्मा और अनात्मा, विनाशी और अविनाशी, अनेक नामों से उसकी व्याख्या की गई है और इन दोनों में भी उसने एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण रूप में स्वीकार किया है। प्रमुख चैतन्य है, जिसको उसने पुरुष कह कर सम्बोधित किया है और प्रकृति को उसने गौण माना है। 'पुरुष' सत्कार्यवादी दर्शन का पारिभाषिक शब्द है यानी जो बोलचाल की भाषा में 'पुरुष' शब्द प्रचलित है, यह उसका अर्थ नहीं है। यहाँ 'पुरुष' शब्द का अर्थ परम अक्षर चैतन्य है। उस परम चैतन्य तत्त्व को सम्बोधित करने के लिए जब हम किसी अभिधान का प्रयोग करते हैं तो उसके लिए 'पुरुष' शब्द ही उपयुक्त है अन्य कोई शब्द इतना उपयुक्त नहीं बन पाता इसीलिए गीता में भी भगवान् ने उस परम तत्त्व को पुरुषोत्तम शब्द से ही अभिहित किया है। उपनिषदों में भी—

पुरुषान्न परं किञ्चत्सा काष्ठा सा परा गतिः।

—कठ० १/३-११

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

—श्वेता० ३/१५

आदि मन्त्रों में 'पुरुष' शब्द का ही प्रयोग है। 'पुरीशेतेति पुरुषः' अर्थात् जो पुर में विश्राम कर रहा है, वह पुरुष है। इसमें शरीर 'पुर' तथा उसमें विश्राम करने वाले उसके स्वामी 'चैतन्य' दोनों का ही बोध हो जाता है। कठोपनिषद् में जहाँ क्रमिक विकास के अनुसन्धान की प्रक्रिया बताई है, वहाँ कहा है—

इन्द्रेयभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

—कठ०१/३-१०

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषय जिनको अर्थ कहा गया है, अपने ग्राहक इन्द्रियों से श्रेष्ठ अर्थात् प्रबल हैं। अर्थ से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि तथा बुद्धि से श्रेष्ठ जीवात्मा है। आगे मन्त्र में कहा गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

—कठ०१/३-११

अर्थात् ''जीवात्मा से परे अव्यक्त तथा अव्यक्त से परे पुरुष है, उससे परे और कुछ नहीं है। वही काष्ठा तथा परम गति है, ऐसा कहते हुए उपनिषद् उस पुरी के स्वामी परम चैतन्य की महिमा का गान करती है।'' सत्कार्यवाद की दृष्टि से जिस पुरुष से परे और कुछ नहीं है वही पुरुष समग्र रूप में प्रकट विराट विश्व का कारण है। अर्थ से लेकर अव्यक्त तक पुर की सीमा है और इससे परे इसमें विश्राम करने वाला इसका स्वामी पुरुष है जो इस सबका आधार है। अतः यह पुर भी उसी

का है इसलिए उससे अभिन्न सम्बन्ध रखता है। पुर और उसमें विश्राम करने वाले पुरुष को अलग-अलग कर दें, ऐसा सम्भव नहीं है। जैसे हम अपने शरीर से अपने आपको को अलग कर सकते हैं किन्तु वे दोनों अर्थात् पुर एवं उसका स्वामी एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते इसलिए समग्र रूप से उन्हें पुरुष कहा जाता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है—

मत: परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

— गीता ७/७

'हे धनंजय! मेरे से परतर कुछ नहीं है।' परतर माने मेरे से ऊपर, मेरे से परे। आगे प्रभु कहते हैं—

अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा।

— गीता ७/६

''मैं ही समग्र जगत् के रूप में प्रकट होता हूँ तथा मैं ही अपने आपको समेटता हूँ।'' अभिप्राय यह है कि सांख्य की भाषा में 'पुरुष' का अर्थ केवल चेतन होता है फिर भी यह 'पुरुष' शब्द अपने में सम्पूर्ण विश्व को समेटे हुए है। पुर शब्द प्रकृति का वाचक है और उसमें विश्रामकर्त्ता परम चैतन्य का। इस प्रकार से सत्तात्मक रूप से जो भी कुछ है वह पुरुष शब्द में ही समाहित है।

यह जो हमारा शरीर, स्वरूप या व्यक्तित्व है,यह उसी परम तत्त्व का मॉडल अर्थात् प्रतिरूप है, इसलिए मनुष्य को पुरुष शब्द से सम्बोधित किया गया है। पशु-पक्षी के लिए आप पुरुष शब्द नहीं सुनेंगे। उनके लिए स्त्रीलिंग या पुलिंग का प्रयोग जहाँ भी होगा वहाँ भी जो पुलिंगवाची पशुओं के नाम हैं, उनमें पुरुष शब्द का अभाव है क्योंकि वहाँ पूर्णरूप से पुरी की व्यवस्था नहीं, विकास नहीं। इसलिए मनुष्य शरीर को ही प्राप्त होने वाले प्राणियों के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग है क्योंकि यह

उसी का प्रतिरूप है। प्रतिरूप माने उसकी अनुकृति। वैदिक साहित्य के शतपथ ब्राह्मण में आया है—'**सहस्त्रस्य प्रतिमा पुरुषः**' अर्थात् यह मनुष्य परमात्मा की प्रतिमा है, प्रतिकृंति है, प्रतिमूर्ति है। प्रतिमूर्ति कहने का अभिप्राय यह कि जो आपको उस पुरुष में मिलता है, वही इस पुरुष में मिलता है—'**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**'। इसलिए पूर्व के आचार्यों ने कहा कि यदि आप परमात्मा को जानना चाहते हैं तो अपने आप को जानो। अपने को जानने का अभिप्राय यह कि यदि आप अपने को समग्र रूप से जान लेंगे तो परमात्मा की समग्रता का पता चल जायेगा। आप क्या हैं, शरीर क्या है, शरीर का स्वामी कौन है, जब तक यह नहीं जानते तब तक परमात्मा को क्या जानोगे? परमात्मा जो कि अनन्त ब्रह्माण्डों का अधिपति है, यदि आप उसको समग्र रूप से जानने का प्रयत्न करेंगे तो सम्भव नहीं क्योंकि अपना तो इस अनन्त विश्व में च्युँटी के बराबर भी स्थान नहीं है। उस अनन्त को जानना या उसके विषय में सोचना, यह तो अपनी बुद्धि से परे की बात है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—तैत्तिरीय० २/९

जहाँ से मन सहित वाणी आदि समग्र इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उसे किसके द्वारा जाना जाये। केनोपनिषद् में कहा गया है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न
विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।

—केन० १/३

अर्थात् वहाँ उस परम तत्त्व तक न तो चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की गति है, न वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की और न मन आदि अन्तर इन्द्रियों की ही। जिस प्रकार इसको बतलाया जाये कि यह ऐसा है, इस बात को न तो हम

स्वयं अपनी बुद्धि से जानते हैं और न दूसरों से सुनकर ही जानते हैं क्योंकि वह जाने हुए या जानने में आने वाले पदार्थ समुदाय से वा दृश्य जगत् से सर्वथा भिन्न है और मन, इन्द्रियों आदि द्वारा जानने में न आने वाले से भी उपर है अर्थात् अव्यक्त से भी परे है। यह अपने पूर्वाचार्यों द्वारा सुनते आये हैं, जिन्होंने हमें उस परम तत्त्व को भली-भांति व्याख्या करके समझाया था। उस परम तत्त्व के सम्बन्ध में वेद का भी यही कथन है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

—पुरुषसूक्त ३

चतुष्पाद में अविद्यापाद, विद्यापाद, आनन्द पाद और तुरीय पाद, ये चार पाद हैं। इसमें तुरीय, आनन्द और विद्यापाद तो अमृतमय हैं, दिव्य हैं। अविद्यापाद में ही यह विराट् है, विराट् के अंग-अंग में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। हम, आप तो कल्पना करके उस ब्रह्माण्ड के एक अंश को भी नहीं समझ सकते। वैज्ञानिक अविद्यापाद के अभी एक अंश को भी नहीं समझ पाए हैं, अविद्यापाद में ही घूमते-फिरते यह दुर्गति हो रही है, बुद्धि काम नहीं कर रही, तो इससे परे विद्या, आनन्द और तुरीय है, उसकी कल्पना कहाँ से कर सकते हैं। इसलिए उपनिषदों ने कहा, उसको समझना हो तो पहले अपने आप को समझो।

जैसे परमात्मा चतुष्पाद है, इसी तरह तुम्हारा यह जीवन भी चतुष्पाद है। अहं, अहं से मन, मन से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से शरीर, शरीर से सारे जगत का व्यवहार, ये सब अविद्यापाद में हैं। इस अविद्यापाद के आगे अर्थात् अहं से आगे जहाँ से अहं की अभिव्यक्ति होती है जिसे बुद्धि तत्त्व कहते हैं, वह विद्यापाद है। उपनिषद् कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

—कठ० १/३-१२

बुद्धि से परे चित्त को आनन्दपाद तथा चित्त से परे चेतन को तुरीय पाद कहते हैं। हमारी यह जो समझ है वह तो अहं से नीचे ही है ऊपर नहीं। हम साधन करते हैं, पुण्य करते हैं या पाप करते हैं, सब अहं से ही करते हैं। हमारी सारी दुनिया तो अहं में ही फैली हुई है और यह अहं अविद्याजन्य होने से अविद्यापाद कहा जाता है। जैसे चार पाद ब्रह्म का विवेचन करते हैं वैसे ही ये चार पाद जीव का भी, क्योंकि यह जीव उसी का आविर्भूत रूप है। इन दोनों को जब समझ लेंगे तो आप उस दर्शन को भी समझ जायेंगे कि वह कैसे, किस ढंग से आपको व्यष्टि से उठाकर समष्टि में, सीमा से उठाकर असीम में तथा पुरुष से उठाकर पुरुषोत्तम की अवस्था में जाने की प्रेरणा देता है। सत्कार्यवादी दर्शन का क्रियात्मक या व्यावहारिक विवेचन प्रस्तुत करना ही योगदर्शन का विषय है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि सत्कार्यवाद के दार्शनिक पक्ष को सांख्य तथा व्यावहारिक पक्ष को योग कहते हैं। जिस प्रक्रिया के ज्ञान से सत्कार्यवाद के कार्य-कारण स्वरूप का बोध प्राप्त होता है उसके लिए सांख्य शब्द का प्रयोग है तथा जिस साधन से इसको जानने की क्षमता प्राप्त होती है, उस साधन का नाम योग है। जब हम सांख्य और योग शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें भारत का समग्र दार्शनिक पहलू ही आ जाता है। सांख्य के द्वारा हम उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझा पाते हैं और योग के द्वारा उसके क्रियात्मक पहलू को।

योग का अभिप्राय केवल आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि की क्रियाओं को करना ही नहीं बल्कि यह तो सम्पूर्ण जीवन को जीने की प्रक्रिया है। इसमें आपकी केवल आध्यात्मिक उन्नति की ही बात नहीं बल्कि भौतिक जीवन को किस ढंग से उत्तम बनाया जाए, सुन्दर बनाया

जाए, परिष्कृत किया जाए या सुख से कैसे जीया जाए, यह सारी व्यवस्था देता है क्योंकि क्रियात्मक जीवन को जीने की सम्पूर्ण व्यवस्था योग में है। यही कारण है कि आज के पश्चिम के विद्वान् भी इसके मुरीद हैं और इसे अपनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। एक नहीं सैंकड़ों पुस्तकें पश्चिम के विद्वानों ने योग पर लिखी हैं। हज़ारों, लाखों नहीं करोड़ों अंग्रेज, करोड़ों अमेरिकन इस दर्शन को समझने में रत हैं। इस समय दुनिया में हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा और साख को स्थापित करने का श्रेय इसी दर्शन को है। योगदर्शन में केवल १९५ सूत्र हैं, इतनी छोटी-सी यह पुस्तिका है। जो अपने दैनिक जीवन को शुद्ध दृष्टि से जीना चाहते हैं, वे यदि इसमें से कुछ ही सूत्र याद कर लें और उसे अपने जीवन में अपनाने की कौशिश करें तो भी बहुत है। कोई भी ग्रन्थ आस्तिक और नास्तिक ऐसा नहीं जिसमें इसकी सभी प्रक्रियाओं को स्वीकार न किया गया हो। जैसे जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन हैं, उन दार्शनिकों ने भी उत्तम बुद्धि को प्राप्त करने के लिए इसके साधनों को अपनाया है और जो आस्तिक दर्शन हैं, उनमें तो इसका प्रभुत्व है ही। इस दर्शन ने किसी का आश्रय स्वीकार नहीं किया लेकिन दूसरे दर्शन इसके आश्रय के अभाव में खड़े नहीं हो सकते क्योंकि विशुद्ध बुद्धि के बिना कोई भी दर्शन खड़ा नहीं हो सकता और विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त करने की प्रक्रिया इसी में है। इसकी बराबरी कोई भी अन्य दर्शन नहीं कर सकता। विद्वानों ने इस सत्य को स्वीकार किया है। व्यासदेव आदि भी जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उन्होंने भी इस पर भाष्य लिखा है। योगदर्शन पर प्रचीनतम भाष्य व्यास भाष्य है। इस ग्रन्थ की महिमा इतने से ही समझ में आ जाती है।

पहली बात यह दर्शन बिल्कुल व्यवहारिक है और दूसरी बात यह कि इस दर्शन को व्यवहार में लाये बिना अन्य दर्शनों के यथार्थ

तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसलिए इसकी प्रतिष्ठा और मान्यता सर्वथा समीचीन है।

पतंजलि ने जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए चार रास्ते बताये हैं लेकिन उनमें अधिकारी भेद है। जो सबसे उत्तम अधिकारी है, उसके लिए उन्होंने एक छोटा-सा सूत्र लिखा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—यो०सू० १/१२

"अभ्यास और वैराग्य की प्रतिष्ठा होने से चित्त निरोध व तत्त्व बोध की प्राप्ति हो सकती है।" जैसे गीता आपको यह बताती है कि जब तक आपकी बुद्धि विशुद्ध नहीं होगी तब तक न तो आपका कर्म संन्यास बनेगा और न ही कर्म योग। कर्मसंन्यास या कर्मयोग के लिए भी विशुद्ध बुद्धि चाहिए। यदि आप दुनिया छोड़कर जंगल में बैठना चाहो या संन्यासी बनना चाहो तब भी विशुद्ध बुद्धि के बिना नहीं होने का और यदि इस दुनिया में रहते हुए, काम करते हुए मोक्ष चाहें तब भी बिना विशुद्ध बुद्धि के नहीं सधने का। किसी भी क्षेत्र में यदि सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो विशुद्ध बुद्धि अनिवार्य है, यह गीता की प्रस्थापना है। उस विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त करने के लिए योगदर्शन में बताया गया है कि जब तक आपका चित्त स्थिर नहीं होता तब तक विशुद्ध बुद्धि प्राप्त नहीं होगी। चित्त स्थिरता के लिए उपाय है अभ्यास और वैराग्य। यह मार्ग बुद्धि प्रधान लोगों के लिए है क्योंकि अभ्यास सबसे नहीं होता और बिना अभ्यास के वैराग्य भी नहीं होने का। अभ्यास तो बुद्धिमान् व्यक्ति ही कर सकता है, इसलिए मैं कहा करता हूँ कि यदि आप अपना आन्तरिक विकास करना चाहते हैं तो सबसे प्रथम बुद्धि का प्रयोग करें क्योंकि इससे बड़ी देन परमात्मा की आपके लिए और कुछ नहीं है। कहने का अभिप्राय यह कि बुद्धिमान् व्यक्ति ही अभ्यास और वैराग्य

का अधिकारी हो सकता है।

यहाँ पर एक और बहुत सूक्ष्म बात है समझने की। लोग त्याग और वैराग्य को एक ही समझते हैं, यह सबसे बड़ी भूल है। योगदर्शन ने त्याग की नहीं वैराग्य की बात कही है। त्याग के लिए पदार्थ से अलग होना आवश्यक है पर वैराग्य के लिए नहीं। परिवार का त्याग किया तो परिवार से अलग होना जरूरी है लेकिन परिवार से यदि वैराग्य किया तो उससे अलग होने की आवश्यकता नहीं। वैराग्य माने रागरहित होना या दूसरी भाषा में कहें कि डिटैच्ड होना। वस्तु पड़ी है पड़ी रहे उसमें हमारा राग नहीं। राग किसे कहते हैं?—

सुखानुशयी रागः।

—यो०सू० २/७

''जिसमें हमें सुख की आशा हो उससे लगाव का नाम राग है'' और विराग शब्द का अर्थ होता है किसी भी पदार्थ या प्राणी से सुख की आशा न करना। पदार्थ का न होना विराग नहीं। किसी वस्तु का होना या न होना हमारे वश की बात नहीं है। संसार तो ऐसे ही बनाने वाले ने बनाया है या यह समझो कि परमात्मा स्वयं संसार रूप में प्रकट हुआ और यह हमारे बस का तो नहीं कि हम उसे जड़ से उखाड़ सकें लेकिन उसकी उपस्थिति में ही हम राग रहित हो सकते हैं क्योंकि राग मन का धर्म है और वह हमारे अपने से सम्बन्धित है लेकिन त्याग जो है वह किसी वस्तु को अपने से अलग करना है जो कि अपने वश की बात नहीं। वह हमारे मन का धर्म नहीं। यदि यह कहते हैं कि मन से ही त्यागा है तो ठीक है क्योंकि मन से त्याग का नाम ही विराग है। त्याग और वैराग्य में यही भेद है।

एक बात और याद रखें, दुनिया में किसी वस्तु का होना या न होना कुछ अर्थ नहीं रखता यदि उससे आपका सम्बन्ध नहीं। दुनिया में

हज़ारों, लाखों, करोड़ों पदार्थ हैं; इनके होने या न होने में आपको क्या हानि है? कोई हानि नहीं परन्तु हानि उस समय है जब इनसे आपका राग हो जाए और उसी अवस्था में इनका होना या न होना आपके लिए महत्त्व रखता है। इसलिए योगदर्शन त्याग की नहीं वैराग्य की बात करता है।

अब दूसरी बात अभ्यास की है। अभ्यास का अभिप्राय चेतन का अपने सही स्वरूप की स्मृति तथा उसमें स्थिति से है। जो कुछ शब्द प्रमाण द्वारा यानी गुरुमुख से सुना है और सुनकर उसमें आस्था की है, अपने चित्त को पुनः-पुनः उसी में स्थापित करने के प्रयत्न का नाम अभ्यास है। आचार्य शंकर ने श्रद्धा की व्याख्या करते हुए कहा है कि शास्त्र और गुरु के वाक्य में प्रत्यक्षवत् विश्वास का नाम श्रद्धा है। प्रत्यक्षवत् माने जैसे हमने स्वयं अपनी आँखों से ही देखा हो। गुरुमुख से सुने हुए आत्मतत्त्व का बार-बार चिन्तन करना या अपने चित्त को उसी परम चैतन्य में स्थापित करना अभ्यास है। पहले सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उस परम तत्त्व को गुरुमुख से सुनो, समझो और फिर उसमें अपने मन को लगाने की कोशिश करो। आपको अपने आप समझ नहीं आयेगा कि परमतत्त्व क्या है। गुरुमुख से हमने जो कुछ भी उस परमतत्त्व के विषय में सुना है, उसे श्रुत ज्ञान कहते हैं और उसी श्रुत ज्ञान को शास्त्रों में शब्द प्रमाण कहा गया है। इस दर्शन में प्रमाण के तीन रूप बताये गये हैं— शब्द प्रमाण, अनुमान प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण। शब्द तथा अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण का ही अनुवर्ती है। प्रत्यक्ष प्रमाण उसी का है जिसने उस परमतत्त्व को देखा है। उपनिषदों में भी मिलता है—

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।

—ईशा० १०

अर्थात् ''उन धीर पुरुषों से ऐसा सुना है, जिन्होंने उस परमतत्त्व को देखा है। जिसने देखा है वही बतायेगा, जिसने देखा नहीं वह क्या बतायेगा?''

कहने का अभिप्राय यह कि जिसने देखा है उसके द्वारा कहे हुए में प्रत्यक्षवत् आस्था अर्थात् जैसे उन्होंने उसकी मीमांसा की है उसके अनुसार उस तत्त्व में मन का टिक जाना या बार-बार उसमें टिकाने की कोशिश करने का ही नाम अभ्यास है। यह अभ्यास और वैराग्य का मार्ग बुद्धि प्रधान लोगों के लिए है। इसी को ज्ञानयोग कहते हैं।

योगदर्शन एक दूसरा मार्ग भी मानता है। उसके अनुसार दुनिया में बुद्धि प्रधान लोग हैं, जो सुने हुए परम चैतन्य में आस्था करके अभ्यास करते हैं और देखे तथा सुने हुए भोगों से विरत रहते हैं। ऐसे ही हृदय प्रधान लोग भी हैं। दुनिया में मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं-एक बुद्धि प्रधान तथा दूसरी हृदय प्रधान। यदि ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा हो तो बुद्धि और हृदय का एक साथ विकास होता है। वैसे ऐसा होता बहुत कम है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्य या तो बुद्धि प्रधान हैं या हृदय प्रधान। उसका कारण यह है कि कुछ शताब्दियों से मानव समाज में एक रोग चला सम्प्रदायवाद का। कुछ सम्प्रदाय बुद्धि प्रधान हो गये और कुछ हृदय प्रधान। बुद्धि प्रधान वाले हृदय प्रधान को नासमझ समझते हैं तथा हृदय प्रधान वाले बुद्धि प्रधान को पागल। जिस भी सम्प्रदाय से जब कोई व्यक्ति सम्बन्धित हो जाता है तो वहाँ उसे एकांगी ही प्रशिक्षण मिल पाता है। यह तो दैवी कृपा से किसी के दिल-दिमाग में दोनो का जागरण हो जाए तो अलग बात है।

एक बार मैं गुजरात में था। राजकोट एक स्थान है जहाँ हम लोग ठहरे थे। एक दिन वहाँ के सिटी मैजिस्ट्रेट मेरे पास आये। महाशिवरात्रि का वह दिन था। तत्त्वज्ञान की मीमांसा चल रही थी और हम उन्हें वैज्ञानिक ढंग से समझा रहे थे। सूर्य अस्त होने को हुआ तो मैंने उन्हें कहा कि आप यहाँ बैठिए; मैं ज़रा नीचे मन्दिर हो आऊँ। नीचे पंचनाथ महादेव का मन्दिर था। वे लोग कहने लगे हम भी साथ चलेंगे। हम सब

नीचे चले गये। मन्दिर का पुजारी हमें जानता ही था क्योंकि तीन-चार दिन से वहीं ठहरे थे। पुजारी ने बिल्वपत्र और जल लाकर दिए। मैंने भगवान् शंकर की पूजा की। बाद में साष्टांग दण्डवत किया, प्रणाम किया, प्रार्थना करने लगा। स्वाभाविक था कुछ भाव हृदय में आया होगा, मैं आँखें बंद करके खड़ा रहा। वे सब लोग जो मेरे पास आये थे, मुझे देखने लगे। उनको लगा कि यह बात क्या है, अभी तो ये तत्त्वविज्ञान, वेदान्त की बातें हमें बता रहे थे, क्या ये मूर्ति पूजा भी करते हैं? बाद में जब हम वहाँ से चले तो कहने लगे, स्वामी जी! आप मूर्ति पूजा भी करते हैं? मैंने कहा, क्यों मूर्ति पूजा कोई बुरी चीज़ है, इसमें आपको सन्देह क्यों? वे कहने लगे आप तो दार्शनिक हैं। मैंने कहा, मैं दार्शनिक हूँ तो इसका अभिप्राय यह तो नहीं कि मेरे पास हृदय नहीं है। मैंने उनको एक शे'र सुनाया—

मेरे मालिक पता है सब खलक है बस झलक तेरी।
मगर फिर भी तमन्ना है किसी दर सर झुकाने की॥

सारे विश्व में, सर्वरूप में परमात्मा है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं लेकिन हर एक व्यक्ति जो हृदयवान है, वह चाहता है कि कहीं वह सर झुकाये। यह स्वाभाविक होता है, सहज वृत्ति होती है, इसको कोई रोक नहीं सकता।

हम देखते हैं उपनिषदों के ऋषियों को। वे महान् से महान् तत्त्वज्ञानी तथा परमभागवत थे। आरुणी गुरु के पास ब्रह्मविद्या की सीख लेने आया। गुरु ने कहा, आरुणी! पानी बह रहा है, तुम जाकर मेड़ बाँध आओ। धान का खेत है, पानी बाहर न जाये। वह जाता है, पानी को रोकने के लिए कोशिश करके मिट्टी रखता है परन्तु मिट्टी से नाली रुकती नहीं। जब पानी नहीं रुकता तो वह स्वँयं उसी में सो जाता है क्योंकि गुरु आज्ञा है, पानी रोकना है। जब रात हो जाती है और आरुणी नहीं आता

तो गुरु अन्य शिष्यों से पूछते हैं, आरुणी नहीं आया क्या? वे कहते हैं गुरु जी! आपने पानी बाँधने के लिए भेजा था परन्तु वह लौटा नहीं। गुरु जी स्वयं मशाल लेकर आरुणी को ढूँढने जाते हैं और आवाज़ देते हैं, आरुणी बेटा! आरुणी मेढ़ के नीचे पड़े-पड़े आवाज़ देता है, गुरु जी! मैं यहाँ हूँ। गुरु जी पूछते हैं क्या कर रहा है तू? आरुणी बोला, गुरु जी पानी रोक रहा हूँ। अब आप देखिए, जो गुरु के पास ब्रह्मविद्या प्राप्त करने गया हो, उसके उद्देश्य, भावना और जीवन को समझिये। कितनी श्रद्धा, त्याग और समर्पण है और फिर वह गुरु प्रसाद से ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है। हमें उपनिषदों में कहीं भी हृदय को कुण्ठित करने का मार्ग नहीं मिलता। गुरुदेव की बड़ी कृपा रही कि हमें एकांगी साधन की कभी शिक्षा नहीं मिली और न उस संस्कार में पले ही हैं। इसीलिए मैं अपने यहाँ जितने बुद्धिवादी हैं उनको हृदय का दिवाला नहीं निकालने देता और जितने हृदय प्रधान हैं उनको बुद्धि का दिवाला नहीं निकालने देता। मैं कहता हूँ कि तुम लोग समता में चलो। बुद्धि तुम्हारी इतनी सूक्ष्म हो जिससे तुम परमतत्त्व को समझ सको और हृदय तुम्हारा इतना भरा हो, इतना सरस हो, इतना विशाल हो कि सारे संसार को तुम आत्मसात करने की क्षमता रखो। वेद कहता है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह।

—ईशा० ११

अर्थात् विद्या और अविद्या दोनों को यदि तुम साथ-साथ जानते हो तभी तुम—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

—ईशा० ११

अविद्या के बोध से, अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को तर जाओगे तथा विद्या के ज्ञान द्वारा अमृत तत्त्व का पान करोगे। वेद के इस सन्देश से हमें

प्रकाश मिलता है कि हम अपने जीवन को किस दिशा में, किस प्रकार आगे बढ़ायें।

मैं आपको बता रहा था कि योगदर्शन ने दूसरा मार्ग हृदय प्रधान वालों के लिए ईश्वर प्रणिधान का बताया है। ईश्वर प्रणिधान में भी अज्ञानता नहीं बुद्धि काम करती है लेकिन बुद्धि वहाँ प्रधान तत्त्व नहीं है, प्रधान तत्त्व समर्पण की भावना है। योगदर्शन में ईश्वर को समझने की बात भी कही गई है क्योंकि उसे बिना समझे समर्पित नहीं हुआ जा सकता, इसलिए जब तक बुद्धि सक्रिय नहीं होगी, तब तक ईश्वर को नहीं समझा जा सकता और समझे बिना प्रणिधान कैसे होगा यानी आश्रय किसका लेंगे? इसलिए उत्तम अधिकारी के लिए योगदर्शन ने अभ्यास-वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान ये दो रास्ते बताए हैं।

तीसरा रास्ता क्रियायोग का है। क्रियायोग में सामान्य लोगों के लिए ईश्वर-प्रणिधान के साथ दो बातें और जोड़ दी हैं—तप और स्वाध्याय। तप से शरीर शुद्धि तथा स्वाध्याय से बौद्धिक जागृति होती है। तप की व्याख्या की गई है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

—यो०सू० २/४३

अर्थात् जिससे शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि तथा अशुद्धि का नाश हो वही तप है। मनु ने मनुस्मृति में लिखा है कि बिना तप के अशुद्धि का नाश नहीं होता। शुद्धि के लिए तप बहुत जरूरी है। उपनिषदों में भी बताया गया—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।

—तैत्तिरीय० ३/२

अर्थात् तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर, तप ही ब्रह्म है। इसी तरह स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है, इसलिए

तप और स्वाध्याय के साथ ईश्वर प्रणिधान की बात बताई गई है। यह मार्ग उन लोगों के लिए है जो न तो पूर्णतः हृदय प्रधान हैं, न पूर्णतः बुद्धि प्रधान और न दोनों की समन्वित स्थिति है, किन्तु पूर्णत्व को प्राप्त करने के उत्कट अभिलाषी हैं। इस क्रियायोग की व्याख्या मैंने पहले की है जो 'सहज समाधि भली' नाम से पुस्तक प्रकाशित हुई है। विशेष जानकारी के लिए उसे पढ़ सकते हैं।

चौथा रास्ता उनके लिए है जो अध्यात्म मार्ग पर चलने की अभी तैयारी कर रहे हैं। एक व्यक्ति जो अभी सामान्य स्तर से ऊपर उठना चाहता है, उसके लिए साधन में प्रवृत्त होना चाहता है, उससे एकाएक न तो तप होगा, न स्वाध्याय ही और बिना इनके ईश्वर-प्रणिधान सध नहीं सकता। उसके लिए योगदर्शन ने अष्टांग योग का मार्ग बताया हैं। कुछ विद्वानों की यह राय है कि अभ्यास और वैराग्य उनके लिए है जो संसार से पूर्णतः विरक्त हो चुके हैं या विरक्त होना चाहते हैं, जिन्हें भोग की कोई चाह नहीं और जो बुद्धि प्रधान हैं। दूसरे वे लोग हैं जो संसार से उपरत होकर पूर्णतः भक्तिभाव में डूबे हैं, उनके लिए ईश्वर प्रणिधान है। तीसरे वे हैं जो ईश्वर प्रणिधान की ओर आगे बढ़ना चाहते हैं किन्तु अभी उनका अन्तर अहं युक्त है, वृत्तियाँ सारी प्रबल हैं। उनके लिए तप और स्वाध्याय के द्वारा ईश्वर प्रणिधान का रास्ता बता दिया गया। लेकिन जो गृहस्थाश्रम में रह रहे हैं, अभी संसार की जिम्मेदारी लगी है, उनके लिए अष्टांग योग की बात बताई गई है।

अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ अंग हैं। यम, नियम के आधार पर संयमित जीवन के द्वारा ही गृहस्थी लोग उठकर खड़े हो सकते हैं। यम-नियम की बातें परमार्थ की कम और व्यवहार की अधिक हैं। आत्म नियन्त्रण के लिए नियम तथा सामाजिक नियन्त्रण के लिए यम हैं। समाज के

साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए इसके लिए यम तथा अपने आपको नियन्त्रित रखने के लिए नियम की व्यवस्था की गई है। स्मृतियों में कहीं बारह यम और बारह नियम बताये हैं तो कहीं दस यम और दस नियम बताये हैं लेकिन योगदर्शन ने सबको समेटकर पाँच यम और पाँच नियम ही स्वीकार किए हैं। इनकी व्याख्या मैंने अपनी 'जीवन विज्ञान' नामक पुस्तक में की है। जो बात हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है, जैसे हम चोरी करें, व्यभिचार करें, हिंसा करें या झूठ बोलें तो ये सब बातें अपने से ही नहीं दूसरे से भी सम्बन्धित हैं, अतः इनके लिए यम हैं और अपने जीवन को व्यवस्थित कैसे किया जाए इसके लिए नियम हैं। बहुत लोग ऐसे आपको मिलेंगे जो भजन करते हैं, पाठ करते हैं,पूजा करते हैं, मन्दिर जाते हैं लेकिन उनका जीवन इतना निकृष्ट होता है कि देखकर घृणा होती है। वे सोचते हैं कि यह जो हमारा पाठ हो रहा है या हमने जो अपने को तिलक-चन्दन से विभूषित कर रखा है, उससे हमारा उद्धार होगा या उसी से हमारा कल्याण होगा। उनको यह पता नहीं कि यदि हमारा व्यावहारिक जीवन शुद्ध न होगा तो हमारा कल्याण नहीं हो सकता। उनको जो धर्म की सीख दी गई है या धर्म का रास्ता बताया गया है, वह यही है कि धर्म तुम्हारी दैनिक चर्या से सम्बन्धित नहीं है। वह धर्म को कर्म से भिन्न मानते हैं कि हमने इतना धर्म कार्य कर लिया है और इसका हमें इतना फल मिलेगा। वे यह नहीं जानते कि यदि हमारा समाज या संसार के साथ व्यवहार शुद्ध नहीं तो व्यक्तिगत आचार से उत्थान नहीं होने का। पतंजलि कहते हैं कि यम पहली नींव है, यदि यह मजबूत नहीं तो नियम तुम्हारा व्यर्थ है, उसकी कोई महत्ता नहीं क्योंकि वह तो केवल पाखण्ड होगा। जैसे गीता के तीसरे अध्याय में बताया गया है कि जो लोग बाहर से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन कर रहे हैं, वे मिथ्यावादी हैं क्योंकि उनके मन की स्थिति कुछ है और

बाहर उन्होंने कुछ और बना रखा है। यह तो आप जानते हैं कि जैसी हमारी आन्तरिक वृत्ति है वैसा ही हम व्यवहार करेंगे। यदि हमारा व्यवहार शुद्ध नहीं तो आचार शुद्ध है, इसका क्या प्रमाण है? पतंजलि कहते हैं कि हमारे सारे जीवन की साधना यम और नियम, इन्हीं दोनों तत्त्वों पर अवलम्बित है। कहीं-कहीं तो हम ऐसा चिन्तन देखते हैं कि यदि यम और नियम की पूर्ण प्रतिष्ठा जीवन में हो जाए तो उसी से मोक्ष मिल जाता है, पूर्णता प्राप्त हो जाती है और किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि नियम में जो ईश्वर प्रणिधान है, वह पूर्णत्व को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, ऐसा पतंजलि का सन्देश है-

समाधि सिद्धि ईश्वरप्रणिधानात्।

—यो०सू० २/४५

एक बात याद रखें कि सनातन धर्म यह मानता है कि हर एक व्यक्ति स्थान विशेष पर तथा स्थिति विशेष में रहता है। जहाँ पर वह है वहीं से उसकी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ होगी। दुनिया में ऐसा कोई समय नहीं आने का जबकि सब मनुष्यों की बुद्धि एक सी हो जाये या चित्त एक-सा हो जाए। इसलिए सनातन धर्म एक प्रकार के साधन की बात नहीं कहता। वह कहता है कि जितने व्यक्ति हैं सबका अपना-अपना धर्म है, अपनी-अपनी साधना है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए गीता में भगवान् ने कहा है-

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—गीता ३/३५

स्वधर्म का अभिप्राय कोई ऐसा धर्म नहीं होगा जो कि कानूनन सब पर एक सा लागू कर दिया जाए। इस्लाम, इसाई धर्म आदि जितने सम्प्रदाय हैं, इनमें यथार्थतः स्वधर्म के लिए स्थान नहीं है लेकिन सनातन धर्म में

हर एक व्यक्ति अपनी वृत्ति के अनुसार अपने विकास की साधना में स्वतन्त्र है। एक व्यक्ति यदि प्रेतपूजा कर रहा है तो सनातन धर्म कहता है कि तुम इसकी चिन्ता मत करो कि वह प्रेत क्यों पूज रहा है। वह अपने चित्त की तमोगुणी अवस्था के कारण इस प्रकार की क्रियाओं में रत है। तुम कोशिश करो उसके चित्त की अवस्था को बदलने की। यदि धीरे-धीरे उसका चित्त तमोगुण से रजोगुण में परिवर्तित हो जायेगा तो वह प्रेत पूजा छोड़ कर यक्ष पूजना शुरु कर देगा और यदि उसका चित्त आप रजोगुणी से सतोगुणी बना देंगे तो वह देवपूजा प्रारम्भ कर देगा। इस समय यदि चित्त की अवस्था तमोगुणी है और आप उसे देव पूजा करने को कहें तो न तो वह देव पूजा कर सकेगा और न प्रेत पूजा ही, इसलिए यदि वह प्रेत पूजा कर रहा है तो गलत नहीं। वह अपने चित्त की अवस्था के अनुसार कर रहा है।

सनातन धर्म की महत्ता इसी में है कि वह किसी प्रकार की साधना पद्धति की आलोचना नहीं करता। जो भी साधन आप करते हैं वह ठीक है, वही साधना साध्य तक ले जा सकती है; यदि चित्त को दिव्यता में परिवर्तित करने की कोशिश की जाए। चित्त परिवर्तन के लिए भाव परिवर्तन चाहिए। भगवान् गीता में कहते हैं कि जो लोग मुझे प्रेत रूप में पूज रहे हैं, उनके लिए मैं प्रेत हो जाता हूँ, जो लोग मुझे भूत के रूप में पूज रहे हैं, उनके लिए मैं भूत हो जाता हूँ क्योंकि दुनिया में जब मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं तो भूत, प्रेत, यक्ष, गन्धर्व, देवता आदि भिन्न कहाँ? ये सब तो मेरी ही अभिव्यक्ति हैं। हमारी स्थिति हमारी चित्त की अवस्था पर निर्भर है। इसलिए सनातन धर्म किसी पद्धति की आलोचना नहीं करता, कोशिश करता है उसे अच्छी दिशा में परिवर्तित करने की। केवल भाव को बदलना है पूजा नहीं बदलनी, स्थान नहीं बदलना। सभी परमात्मा की सन्तान हैं, किसी भी मार्ग से परमात्मा को

प्राप्त किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं।

इसीलिए योगदर्शन में कई प्रकार की साधना की प्रक्रियायें बताई गईं। जैसे चार तो मैंने आपको अभी बताईं और जहाँ मन को टिकाने की बात कही गई है वहाँ और कई प्रकार की भावनायें बताई गई हैं। इन विशेष भावनाओं में अपना मन किस पर टिकायें, उसके लिए पूरी छूट दी गई है। महर्षि पतंजलि का कथन है कि विषय वाली प्रवृत्ति भी मन की स्थिति को बाँधने वाली व मन को टिकाने में सहायक होती है, इसलिए पहले उन्होंने दिव्य विषयों का ध्यान करने की सीख दी है, जिसमें कहा है-

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।

—यो० सू० १/३५

इसमें दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श तथा दिव्य श्रवण आदि की ओर संकेत किया गया है। इनमें से किसी का भी आश्रय लेकर मन को एकाग्र किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य उपाय बताये हैं जैसे—'**विशोका वा ज्योतिष्मती**', '**वीतरागविषयं वा चित्तम्**', '**स्वपननिद्राज्ञानालम्बनं वा**' और इनमें से किसी में भी आपका मन नहीं टिकता तो आखिर में बताया है— '**यथाभिमतध्यानाद्वा**',जो आपका अभिष्ट हो, आपका अभिमत हो, आपको प्रिय हो, उसी में आप अपने मन को टिकाइये। यदि आपका मन स्त्री में या स्त्री का पति में या बच्चे में या घर की तिजोरी में लगता है तो उसी में टिकाने की कोशिश करें किन्तु शर्त यह है कि होना चाहिए एक बिन्दु पर, एक स्थान पर। पतंजलि यह नहीं कहते कि यदि आप तिज़ोरी का ध्यान करेंगे तो परमात्मा नहीं मिलेगा। जो आपका अभिमत है, अभिमत मानें जो आपको प्रिय है, उसी का आप ध्यान करें। मन को किसी एक बिन्दु पर टिकाने की ही बात है और वह बिन्दु, स्थान वह नहीं होगा जो मैं आपको बताऊँगा अपितु वही होगा जो आपको प्रिय

हो। जहाँ मन एकाग्र हुआ वहीं से आपका विकास प्रारम्भ हो जायेगा। टिके हुए मन को कहीं भी लगाने में कोई दिक्कत नहीं होती। जैसे इतिहास में आपने पढ़ा होगा बिल्वमंगल का मन चिन्तामणि में लगा था, वहाँ से हटाकर कृष्ण में परिवर्तित करने में कोई देर न लगी। इसी तरह सन्त तुलसीदास स्त्री में अनुरक्त थे, अतः वहाँ से विरत होकर उन्हें राम में अनुरक्त होने में कोई देर नहीं लगी क्योंकि मन तो सधा हुआ था, एक जगह टिकने में वह अभ्यस्त था। योगदर्शन की यही विशिष्टता है कि वह आपके स्तर का साधन बताकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। जिन सूत्रों की मैंने व्याख्या की है उन्हें आप समझ गये होंगे।

एक जगह टिका हुआ वा एकाग्र चित्त ही निर्मल एवं स्थिर हो पाता है। स्थिर चित्त में ही विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है जिससे दृश्य एवं द्रष्टा के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है और उस अनुभूति के द्वारा ही साधक स्वयं को कृतकृत्य कर पाता है, यही योगदर्शन का अन्तिम प्राप्तव्य है। महर्षि पतंजलि की घोषणा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

—यो०सू० ३/५५

अर्थात् जब चित्त एवं चेतन की समान रूप से शुद्धि हो जाती है तभी कैवल्य प्राप्त होता है। राजयोग, मन्त्रयोग, क्रियायोग तथा अष्टांग योग आदि रूपों में अधिकारी भेद से महर्षि पतञ्जलि ने चित्त एवं चेतन की शुद्धि का ही साधन बताया है। अपने अधिकारानुसार इनमें से किसी का भी अवलम्बन लेकर मानव स्वयं को कृतकृत्य कर सकता है क्योंकि चित्त शुद्ध होने पर वह अपने कारण रूप प्रकृति में लय हो जाता है और चेतन अपने अखण्ड, अनन्त, अद्वैत रूप में प्रतिष्ठित हो निजानन्द में निमग्न हो जाता है। यही सत्कार्यवाद का अन्तिम प्राप्तव्य है।

हरि ॐ तत्सत्

२

मेरी प्रिय आत्माओ !

प्रभु का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी शुभकामना है। कल मैंने योगदर्शन से सम्बन्धित साधना के विषय में बहुत-सी बातें आपको बताई थी। योग व्यावहारिक दर्शन है। इसमें सिद्धान्त भी है परन्तु विशेष जोर महर्षि पतंजलि ने व्यवहार पर दिया है। उनके मत से सत्य क्या है इस सम्बन्ध में कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। आप साधन करें सत्य का दर्शन आपको स्वतः हो जाएगा। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्य के विषय में कल्पना से जो धारणाएँ आपने बनाई हैं, उनसे आपका कल्याण नहीं होने का। जो है उसे जाना जा सकता है, देखा जा सकता है, इसलिए उस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कल्पना अनुपयोगी होगी। विशेष रूप से ईश्वर है, उसने सृष्टि को रचा, दुनिया उसके अनुशासन में चल रही है, वही सबका कर्त्ता-धर्त्ता है, आदि मान्यताओं का इस दर्शन में विचार नहीं। इसका मूल विषय है कि हम मनुष्य हैं और मनुष्य होने के नाते हम अपने यथार्थ को समझें।

योगदर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि संसार में दुःख है। दुःख क्यों है ? इसके कारण को आप ढूँढें क्योंकि दुःख के कारण को बिना ढूँढे उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उसकी जड़ को उखाड़कर फेंका नहीं जा सकता। इस विषय में उसका कथन है-

तस्य हेतुरविद्या।

—यो०सू० 2/24

दुःख का कारण अज्ञान है या अविद्या ही दुःख का कारण है। यदि अविद्या का नाश हो जाए तो दुःख का नाश हो सकता है और यदि अविद्या बनी रहे तो एक नहीं अनेक साधन आप अपना लें दुःख का नाश नहीं होने का। योगदर्शन में अविद्या माने माया नहीं, प्रकृति नहीं और जड़ भी नहीं। कभी-कभी एक शब्द को कई जगह देखकर हम उसका समान अर्थ करने लगते हैं तो अनर्थ हो जाता है। अविद्या शब्द उपनिषद्, वेद, पुराण, गीता तथा योगदर्शन में भी है। इन समस्त सद्ग्रन्थों में अविद्या शब्द के अर्थ में कितना अन्तर है, यदि इसका मनन किया जाए तो हैरानी होती है। एक अर्थ को व्यक्त करने के लिए जैसे अनेक शब्द होते हैं ऐसे ही अनेक अर्थों को व्यक्त करने के लिए एक शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में देखा जाता है।

योगदर्शन के अनुसार अविद्या ही समस्त क्लेशों की जड़ है और क्लेश ही जीवन में दुःख का कारण है। क्लेश के पाँच रूप हैं-

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

—यो०सू० 2/3

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं। इनमें-

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छीन्नोदाराणाम्।

—यो०सू० 2/4

अविद्या ही अन्य चार प्रकार के क्लेशों की जड़ है। बात करने में ये बहुत ही सरल से प्रतीत होते हैं परन्तु इनकी मीमांसा या विश्लेषण बहुत ही गम्भीर है, व्यापक है। अस्मिता माने 'हूँ पना' या 'मैं पना'। 'मैं पने' को ही दूसरे शब्दों में अहंकार कहते हैं। अस्मिता या अहंकार से ही राग और द्वेष पैदा होते हैं तथा राग और द्वेष का परिणाम आगे चलकर

अभिनिवेश होता है। अभिनिवेश माने मृत्यु का भय। मृत्यु से नहीं मृत्यु के भय से व्यक्ति पीड़ित है। मृत्यु तो जब होगी उस समय मालूम नहीं दु:ख होगा कि नहीं लेकिन मृत्यु का भय इतना दु:खद है कि व्यक्ति उसी से पीड़ित रहता है। राग, द्वेष और मृत्यु का भय, इन तीनों का कारण अस्मिता या 'मैं पना' है। 'मैं पने' की माँ अविद्या है। अविद्या की परिभाषा करते हुए ऋषि कहते हैं-

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

—यो०सू० २/५

अनित्य में नित्यता, अपवित्रता में पवित्रता, दु:खप्रद में सुख का तथा अनात्म में आत्मभाव ही अविद्या है। दुनिया में कोई ऐसा मनुष्य नहीं जिसके दु:ख का कारण शरीर न हो। राग, द्वेष, अभिनिवेश और मृत्यु का भय भी शरीर के नाते ही है और वह शरीर अनित्य, अशुचि, दु:ख का कारण और अनात्मा है। अनित्य का अभिप्राय यह नहीं कि यह शरीर एक दिन मर जाएगा क्योंकि यह तो प्रतिदिन मर रहा है, प्रतिपल मर रहा है। मृत्यु माने परिवर्तन। परिवर्तन तो शरीर का स्वभाव है। जिस समय मनुष्य पैदा हुआ था उसी समय से मरना प्रारम्भ हो गया। काल की क्रीड़ा चल रही है और आयु का नाश हो रहा है। जब बच्चा पैदा होता है तो माँ-बाप सोचते हैं कि बच्चा धीरे-२ बड़ा हो रहा है। वास्तव में जिस समय से वह पैदा हुआ है उसी समय से छोटा होना प्रारम्भ हो गया है यानी शरीर की आयु प्रतिपल कम हो रही है। शरीर की वृद्धि, स्थिति और ह्रास की प्रक्रियाएँ तो सृष्टि का नियम है, इसलिए जो शरीर अनित्य है उसे नित्य मानना ही अविद्या है।

मानव शरीर केवल अनित्य ही नहीं अपवित्र भी है। एक शिष्य ने आचार्य शंकर से प्रश्न किया-नरकस्य नरकं किम्? अर्थात् नरक का भी नरक क्या है? उन्होंने उत्तर दिया, 'स्व शरीरम्' अर्थात् अपना शरीर।

दुनिया में अपने शरीर से बढ़कर भी क्या कोई गन्दी वस्तु है? जिस गन्दगी से आप नाक-मुँह सिकोड़ते हैं, वह सब इस शरीर में ही भरी हुई है। शरीर का कोई भी ऐसा अंग नहीं जिससे मल विसर्जित न होता हो। आँख से, कान से, नाक से, मुँह से, कहने का अभिप्राय कि जितने इस शरीर के दरवाज़े हैं, सात ऊपर के, दो नीचे के तथा इसके साथ ही शरीर के अनन्त रोमकूप, इन सभी से सतत मल निकलता रहता है। यदि दुनिया में कहीं गन्दगी है तो वह केवल मनुष्य के द्वारा उत्पन्न की हुई गन्दगी ही है, सहज रूप में नहीं। आप गऊशाला जाते हैं, वहाँ देखते हैं कि गऊएँ पेशाब कर रही हैं, गोबर कर रही हैं, वहाँ न तो कोई नाक दबाता है और न मुँह ही। वहाँ बैठे यह सब देखते रहते हैं परन्तु मनुष्य का शरीर इतना निकृष्ट है कि उत्तम से उत्तम पदार्थ भी आप जिह्वा पर रख लें, गले के नीचे उतरते ही बाद में उसे देखना ही मुश्किल हो जाता है। जो शरीर इतना अपवित्र है, उसे भी हम पवित्र ही मानते हैं।

दुःख के मूलतः दो ही कारण हैं-रोग और भोग। ये दोनों शरीर के नाते ही हैं। शरीर न हो तो कोई रोग नहीं होगा और शरीर न हो तो कोई भोग भी नहीं होगा। भोग के अभाव से दुःख होता है और रोग के भाव से दुःख होता है अर्थात् रोग आ गया तब दुःखी हुए और भोग चला गया तब दुःखी हुए। रोग का संयोग दुःखद और भोग का वियोग दुःखद है। कहने का अभिप्राय दुःख का स्रोत शरीर ही है।

इसी तरह यह शरीर अनात्मा है लेकिन हम करते क्या हैं? जो अनित्य है हम सोचते हैं कि यह कभी मरेगा ही नहीं। महाभारत में यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि दुनिया में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने कहा-हम प्रतिपल देख रहे हैं कि मनुष्य मृत्यु के मुँह में जा रहा है लेकिन जो बचे हुए हैं वे सोचते हैं कि वे मरेंगे ही नहीं; इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है? कबीर ने कहा—

हम देखे जग जात है जग देखे हम जात।
अपुना ठाढ़े राह में औरन को पछतात॥

जब हम किसी की मृत्यु का समाचार सुनते हैं तो कहते हैं बहुत बुरा हो गया। हम यह नहीं सोचते कि हम भी उसी लाईन में लगे हुए हैं, पता नहीं कब लुढ़क जायेंगे। ऐसे अनित्य शरीर को हम नित्य मान बैठे हैं और सोचते हैं कि कभी मरेंगे ही नहीं।

एक बूढ़ी माँ लाठी का सहारा लेकर जा रही थी, उससे चला नहीं जा रहा था। वह सिर नीचा किए चल रही थी कि एक नौजवान लड़की आई। उसे मज़ाक सूझा। उसने पूछा–माँ! क्या गिर गया है जो नीचे ढूँढती हुई जा रही हो? माँ ने उसकी तरफ देखा और कहा, ''बेटी! क्या बताऊँ, तेरी जैसी मेरी भी जवानी थी, यहीं कहीं गिर गई है, वही मैं ढूँढती हुई जा रही हूँ।'' शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध में यदि आप जागरुक रहें और इस अनित्य से अलग हो कर अपने नित्य स्वरूप को ढूँढने की चेष्टा करें, अनुसंधान करें तो अविद्या से मुक्त हो सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि अनित्य शरीर को नित्य मानना, अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दु:ख के कारण रूप शरीर को सुखद समझना तथा अनात्म शरीर में आत्मबुद्धि कर लेने का नाम ही अविद्या है। योगदर्शन में अविद्या कोई तत्त्व नहीं, पदार्थ नहीं अपितु एक वृत्ति है जिसे विपरीत वृत्ति या विपर्यय कहा है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

—यो०सू० १/८

विपर्यय माने मिथ्या ज्ञान। मिथ्या ज्ञान को आगे समझाया 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में नहीं है, उसे उस रूप में मान लेना और जो वस्तु जैसी है उसे वैसा नहीं जानना ही विपरीत ज्ञान है। इसी को गीता के अठारहवें अध्याय में तमोगुणी बुद्धि कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

—गीता १८/३२

तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ग्रहण करती है। तमोगुणी बुद्धि को ही विपर्यय वृत्ति कहा गया है। विपर्यय वृत्ति को ही योगदर्शन अविद्या कहता है और अविद्या ही समस्त क्लेशों का कारण है। इस अविद्या का नाश करने की ही वह विधि बताता है।

योगदर्शन में १९५ सूत्र हैं और जब तक ये आपकी आँखों के सामने न हों कि कहाँ, क्या और किस ढंग से विवेचन किया गया है तब तक योगदर्शन का अभिप्राय समझ नहीं आयेगा। इसीलिए हमारे यहाँ उपक्रम और उपसंहार से ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने की प्रक्रिया बताई गई है। किसी शास्त्र को उसके आदि में, अन्त में और उसकी पुनरावृत्ति को ध्यान से समझें तब उसका सही रूप आपके समक्ष खड़ा हो जाएगा और यदि केवल पल्लवग्राही पाण्डित्य होगा तो फिर खतरे वाली बात होगी। योगदर्शन में अविद्या और विपर्यय दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अविद्या की अवस्था में ज्ञान नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि ज्ञान तो चेतन का धर्म है किन्तु सही ज्ञान चेतन का धर्म नहीं क्योंकि जानना सही भी हो सकता है और गलत भी। सही और गलत का निर्णय करना तो विशुद्ध बुद्धि का धर्म है। विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में अविद्या का नाश होता है, यही आगे योगदर्शन में बताया गया है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

—यो०सू० २/२६

अविपल्व विवेकख्याति का अर्थ है न परिवर्तित होने वाला विपल्व रहित ज्ञान। जिसे गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया उसी को योगदर्शन में

अविप्लवा विवेक ख्याति कहा है। विवेक माने जिससे सद्-असद् का बोध होता हो और ख्याति माने प्रकाश। 'अविप्लवाविवेकख्याति' माने स्थिर ज्ञान का प्रकाश। यही इस अविद्या को नाश करने का उपाय है। अज्ञानता में, अविद्या में पड़कर रात-दिन पाप कर रहे हैं, पुण्य कर रहे हैं। पाप का फल नरक तथा पुण्य का फल स्वर्ग भोग रहे हैं, ये सब मोहमयी निद्रा में हो रहा है। यह भी ध्यान में रखें कि जिसको मैंने विपर्यय, तमोगुणी वृत्ति या अविद्या कहा है उसी का दूसरा नाम मोह भी है क्योंकि मोह शब्द का अर्थ व्याकरण की दृष्टि में 'मुहवैचित्ते' है अर्थात् चित्त का विपरीत रूप में परिवर्तित हो जाना या चित्त की विपरीत अवस्था है। विपरीत अवस्था का अभिप्राय जो वस्तु जैसी है उसको उसके विपरीत रूप में स्वीकार करना। मोह, विपर्यय, अविद्या और तमोगुणी बुद्धि, ये सब समानार्थक हैं। गोस्वामी जी कहते हैं -

मोहा निसा सब सोवन हारा। देखिए स्वपन अनेक प्रकारा॥

मोह वह घोर रात्रि है जिसमें सब सो रहे हैं और उसमें अनेक प्रकार के स्वप्न देख रहे हैं। मोहग्रस्त हो हम जो भी पुण्य-पापरूप कर्म करते हैं, वे स्वप्न में डूबती हुई अवस्था में उससे बचने के लिए किए हुए प्रयत्न के ही समान हैं।

हमारे जितने कर्म हैं चाहे पुण्य हैं या पाप, सब इसी प्रवाह में चल रहे हैं। इन सभी कर्मों से मुक्त होने के लिए एक ही उपाय है- 'विवेक ख्याति' अर्थात् ज्ञान का प्रकाश। जब तक विवेक रूपी प्रकाश नहीं होता तब तक मोह वा अविद्या से आपका छुटकारा नहीं हो सकता। अविद्या के समाप्त होते ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष, इन चारों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। एक को मार दें तो चारों अपने आप समाप्त हो जायेंगे। हम बचपन में एक कहानी सुना करते थे कि कोई एक योद्धा जब युद्ध करने जाता था तो वह अपनी आत्मा को तोते में रख

जाता था। उस पर अनेक अस्त्र- शस्त्र चलते थे तब भी वह नहीं मरता था। वह विजयी होकर वापिस आता था क्योंकि उसकी आत्मा तोते में होती थी, यह कोई जानता नहीं था। जब उसमें आत्मा ही नहीं होती थी तो मरे कैसे? इसी रूप से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश जो हैं, इनकी जान अविद्या में है। जब तक अविद्या जीवित है तब तक इनमें से कोई मर नहीं सकता। अविद्या के रहते हुए ये मरने वाले नहीं। तुलसीदास जी ने लिखा है कि जैसे बिल में साँप रहता है और आपको पता चल जाए कि इस बिल में साँप है और उसे मारने के लिए बिल को ही पीटते रहें तो क्या इससे साँप मरेगा? कहा, बिल्कुल नहीं।

मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध बिधि मारे।

—विनय पत्रिका ११५

इसी रूप से आपके अन्दर छुपा हुआ अज्ञान रूपी, अविद्या रूपी जो रोग है, वह ऊपर से शरीर को तपा डालने या सुखा डालने से नहीं जायेगा। तुलसीदास जी ने एक और उपमा दी है—

तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥

—विनय पत्रिका ११५

जैसे किसी पेड़ की कोटर में कोई पक्षी रहता हो तो वह उस पेड़ को काट डालने से नहीं मर सकता। उसी प्रकार से शरीर रूपी वृक्ष में हृदय रूपी जो कोटर है, उसमें अज्ञान रूपी पक्षी रहता है। उस अज्ञान रूपी पक्षी को नष्ट करने के लिए यदि हम शरीर को काट दें तो उससे अज्ञान नहीं जाने का। जैसे साँप को मारने के लिए बिल के ऊपर लाठी मारना, पक्षी को मारने के लिए पेड़ को काट देना विवेकहीनता है, उसी प्रकार अज्ञानता को समाप्त करने के लिए शरीर के साथ अन्याय करना भी विवेक-हीनता की बात है। इसलिए तुलसीदास जी का कथन है कि

जब तक कारण का नाश नहीं करते या जब तक अन्तःकरण में रहने वाला जो अज्ञान है उसका नाश नहीं होता तब तक हमारे किसी भी साधन का कोई लाभ नहीं होने का। वह होगा कैसे? कहा विवेक के प्रकाश में ही साधन से सिद्धि मिलती है।

जो कुछ साधन की बातें आपको यहाँ बताई जा रही हैं, ये सब विवेक जागरण के उपाय हैं। आप जो प्रातःकाल आसन, प्राणायाम करते हैं, ये सब मल शोधन के ही उपाय हैं। ये सब योग की क्रियायें हैं। इनसे केवल शरीर का मल नहीं धुलता मन का भी साथ-साथ धुलता है। शरीर शुद्ध होने पर मन शुद्ध होगा, इससे चित्त का विकास होगा और बुद्धि शुद्ध होगी। शुद्ध बुद्धि में ही आपको विवेक का प्रकाश मिलेगा और इसी से आप बन्धन मुक्त होंगे, दुःख से निवृत्त होंगे।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छीन्नोदाराणाम्।

—यो०सू० २/४

क्लेश की तीन अवस्थाएँ हैं-तनु, विच्छिन्न और उदार। तनु माने बहुत पतला सा, विच्छिन्न माने बिखरा हुआ तथा उदार माने बहुत प्रबल। इसे समझाने के लिए व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में एक उदाहरण दिया है कि जैसे बच्चे में काम के संस्कार हैं परन्तु तनु अवस्था में, उसे उनका बोध नहीं। ज्योंही वह थोड़ा बड़ा होता है, वही संस्कार विच्छिन्न होने लगते हैं और जब वह युवावस्था में होगा तो वही काम के विकार उदार हो जायेंगे। जैसे तनु, विच्छिन्न और उदार काम की स्थितियाँ हैं, उसी तरह यही तीन अवस्थाएँ हैं हमारे समस्त क्लेशों की। तनु रूप में या सूक्ष्म रूप में ये अपने कारण अविद्या या अज्ञान में बैठे हुए हैं। जब तक अविद्या का नाश नहीं हो जाता तब तक दुःख का नाश नहीं हो सकता। अविद्या ही समस्त दुःखों की जननी है।

बहुधा लोग कहते हैं कि हम ईश्वर को नहीं मानते, हम आत्मा

को नहीं मानते अर्थात् हम ऐसे किसी भी अज्ञात तत्त्व को नहीं मानते जिसको हमने देखा नहीं है। योगदर्शन कहता है कि क्या आप अपने आपको मानते हैं? हाँ, मानते हैं। अपने आप में दुःख को मानते हैं? हाँ मानते हैं। उस दुःख से आप बचना चाहते हैं? हाँ, बचना चाहते हैं। कैसे बचना चाहते हैं? एक बात याद रखें कि योगदर्शन में ईश्वर को मानने पर ज़ोर नहीं दिया गया। ईश्वर को मानो चाहे न मानो तब भी काम चल जाता है। मैं भी लोगों को यही बताता हूँ। ईश्वर को मानने वाले भी राक्षस हो सकते हैं तथा ईश्वर को न मानने वाले भी देवता हो सकते हैं। रावण, हिरण्यकश्यप और जरासन्ध भी ईश्वर को मानते थे परन्तु इनके द्वारा हज़ारों राजाओं का बलिदान हुआ। जरासन्ध द्वारा जो शंकर की आराधना के लिए मन्दिर बनाया गया था वह आज भी मौजूद है। रावण तथा हिरण्यकश्यप भी शंकर के पुजारी थे परन्तु थे राक्षस। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। हमारे यहाँ कितने दर्शनकार हुए हैं जो ईश्वर को नहीं माने, वे देवता ही नहीं देवताओं से भी अधिक पूज्य बन गए हैं। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने भी ईश्वर को नहीं माना था परन्तु वे देवताओं के भी वन्दनीय थे। ईश्वर को मानना या न मानना कोई अर्थ नहीं रखता, अर्थ तो केवल यह रखता है कि आप स्वयं अपने आप को मानें। यदि आप दुःखी नहीं हैं तो आपके आस-पास जो दुःखी व्यक्ति दिखाई दे रहे हैं, जिन्हें बुद्ध ने देखा था उन्हें देखें या अपने आने वाले दुःख से सतर्क रहें क्योंकि योगदर्शन कहता है—

हेयं दुःखमनागतम्।

—यो०सू० २/१६

योगदर्शन के मूल सिद्धान्त में चार बातें मानी गई हैं—हेय, हेतु, हान तथा हानोपाय। इन्हीं चारों को भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्य स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध ने जो चार आर्य सत्य-दुःख है, दुःख

का कारण है, उसको दूर किया जा सकता है और उसके लिए उपाय है, बताये थे, ये उनके द्वारा अनुसंधानित नहीं थे। भगवान् बुद्ध से भी पहले पतंजलि हुए हैं उन्होंने हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय के रूप में इन चार सत्यों की मीमांसा की है। कपिल तो पतंजलि से भी बहुत पहले हुए हैं। उन्होंने अत्यन्त दुःख निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ माना है। दुःख के कारण को ही उन्होंने अविद्या कह कर उसके नाश के लिए सांख्य दर्शन में तत्त्व विज्ञान का उपदेश दिया है। हमारे जितने दर्शन हैं विशेष करके सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक, ये चारों इन्ही चार आर्य सत्यों को अर्थात् हेय, हेय-हेतु, हान तथा हानोपाय को मानते हैं और यहीं से इनकी साधना का प्रारम्भ होता है। आने वाले दुःख को ही हेय कहते हैं। वर्तमान में जो दुःख है, उससे आप बच नहीं सकते, बीते हुये दुःख को सोचना व्यर्थ है क्योंकि वह तो बीत गया। यदि गम्भीरता से विचार करेंगे तो आपको एक बहुत मजेदार बात मिलेगी कि ज़िन्दगी में जिसे वर्तमान कहते हैं, वह एक रेखा मात्र है, जिसकी न मोटाई है और न चौड़ाई ही। इस वर्तमान रेखा की मीमांसा नहीं की जा सकती किन्तु यह जीवन को दो भागों में विभक्त कर देती है जिसमें एक तरफ अतीत और दूसरी तरफ अनागत है। जो कुछ मैं बोलता हूँ वह भूतकाल में हो गया और जो बोलने जा रहा हूँ वह भविष्य में है। वर्तमान पकड़ा नहीं जा सकता क्योंकि यह अनिर्वचनीय है, उसकी कल्पना नहीं हो सकती। वर्तमान है सत्ता मात्र बस इतना ही कह सकते हैं। वर्तमान में दुःख है यह भी नहीं कहा जा सकता। वर्तमान कोई लम्बा-चौड़ा तो है नहीं जिसमें दुःख है। दुःख की स्थिति में उसकी अनुभूति तो कर सकते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है जिसको समझना मुश्किल हो जाता है परन्तु बिना समझे भी कल्याण नहीं।

योगदर्शन कहता है कि वर्तमान के दुःख को आप छोड़ दें

क्योंकि इसको आप दूर नहीं कर सकते। भूतकाल में आप बहुत दुःखी थे तो उसको सोचने का क्या लाभ? कल के दुःख को याद करके आज के वर्तमान को क्यों बरबाद कर रहें है? अतीत के दुःख का चिन्तन यदि आप वर्तमान में करते हैं तो यह वर्तमान का दुरुपयोग है। वर्तमान का सदुपयोग इसी में है कि अनागत के दुःख से स्वयं की रक्षा करें क्योंकि आने वाला क्षण आपके वर्तमान से होकर ही गुजरेगा दूसरा कोई रास्ता नहीं। इसलिए-

हेयं दुःखमनागतम्।

—यो०सू० २/१६

पतञ्जलि कहतें हैं कि आने वाले दुःख से बचो। यह जो आने वाला दुःख है, यही हेय है। इस हेय का कारर्ण क्या है?

तस्य हेतुरविद्या।

—यो०सू०२/२४

उस दुःख का कारण अविद्या है, अज्ञान है। यदि आप अपने अज्ञान को दूर कर लें तो आप अपने आने वाले दुःख से बच सकते हैं, दूसरा कोई रास्ता नहीं है। योगदर्शन की यह प्रक्रिया बिल्कुल क्रियात्मक है, इसमें काल्पनिक उड़ान की बात नहीं है। अन्य दर्शनों का समाधान तर्क से होता है परन्तु योगदर्शन अपने सारे सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देकर समाधान करता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ दार्शनिकों ने योगदर्शन को दर्शनों का मूलाधार यानी सिरमौर माना है। दर्शन शब्द का प्रयोग ही यथार्थ रूप में योगविद्या से सार्थक हो सकता है अन्यथा नहीं। योगविद्या ही योगदर्शन का विषय है।

योगदर्शन का कथन है कि अज्ञान को दूर करके ही आप सुखी हो सकते हैं। अज्ञान पैदा क्यों हो गया? अज्ञान स्वाभाविक है या कहीं से आया है? यदि अज्ञान स्वाभाविक है, नित्य है तो उसका नाश नहीं हो

सकता। उसके नाश के तरीके बेकार हैं क्योंकि नित्य तत्त्व तो अविनाशी होता है। यदि यह नित्य तत्त्व नहीं है तो इसका नाश हो सकता है। गीता का कथन है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—गीता २/१६

सत्य का कभी अभाव नहीं होता और असत् का कभी भाव नहीं होता। पतंजलि कहते हैं कि अज्ञान अनित्य है क्योंकि अज्ञान न तो पुरुष का धर्म है और न प्रकृति का ही। एक बात याद रखें कि गुण का कभी नाश नहीं होता। दो विजातीय तत्त्वों के संयोग से दोष का आविर्भाव होता है और उसी का नाश किया जाता है। उदाहरण में जैसे गन्ध गुण है उसका कभी नाश नहीं होता। दुर्गन्ध किसी का गुण नहीं, यह दो विजातीय तत्त्वों के मेल से पैदा होती है। जहाँ पार्थिव तथा जलीय तत्त्वों का मेल होता है, वहीं दुर्गन्ध पैदा होती है। केवल पानी में बदबू नहीं, केवल मिट्टी में बदबू नहीं। मिट्टी के पदार्थ जब पानी से युक्त होते हैं, वहीं पर गन्दगी होती है, वहीं पर बदबू होती है, इसलिए दुर्गन्ध का नाश किया जा सकता है। सुगन्ध गुण है क्योंकि यह मिलकर पैदा नहीं होती। गुण किसी तत्त्व का धर्म है, वह अविनाशी है परन्तु दोष किसी तत्त्व का धर्म नहीं है इसलिए दूर किया जा सकता है।

योगदर्शन कहता है कि अज्ञान किसी का धर्म नहीं है। चेतन का धर्म कभी अज्ञान नहीं हो सकता, जड़ का धर्म भी कभी अज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृति में अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान के लिए गुंजायश ही नहीं है। अज्ञान किसी का धर्म नहीं; यह प्रकृति पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ दोष है। यह अज्ञान रूपी दोष दो के संयोग से उत्पन्न हुआ है। यही बात यहाँ पतंजलि बताते हैं–

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

—यो०सू० २/६

दृग् और दर्शन शक्ति के संयोग से उसमें होती है अस्मिता। अस्मिता स्वयं में दोष है क्योंकि यह दृग शक्ति और दर्शन शक्ति के संयोग से पैदा हुई है। चेतन जब चित्त से युक्त होता है तो उस समय 'मैं' की उत्पति होती है। यह 'मै पना' ही अविद्या की प्रथम संतान होती है ओर आगे राग, द्वेष और अभिनिवेश को जन्म देती है। दृग् शक्ति और दर्शन शक्ति का जब संयोग होता है वहीं पर अस्मिता का आविर्भाव होता है, यह बिल्कुल यथार्थ प्रत्यक्ष किया हुआ सत्य है। चेतन जब चित्त के माध्यम से अभिव्यक्त होता है तो उसमें जो बोधात्मिका वृत्ति पैदा होती है उसी में 'मैं' का जन्म होता है। घोर निद्रा में आप सोये हैं, आपके 'मैं' का पता नहीं। जहाँ आप जागृति में आए, चित्त का सम्बन्ध ज्ञानात्मिका वृत्ति से हुआ, प्रकाश हुआ, वहीं पर आपने देखा कि मैं हूँ। मैं के बाद फिर आया कि यह तो मेरा है। यह जो मैं और मेरे का भान होता है जागने के पश्चात्, ये दोनों दो स्तर की बातें हैं। मैं को अहं कहते हैं और मेरे को मन कहते हैं। जब अहं के साथ मन आया, मैं के साथ मेरा आया, फिर स्वभावतः तू और तेरे का जन्म हुआ। जहाँ मेरा और तेरा आया वहीं द्वन्द्व शुरु हो गया। उसी द्वन्द्व में सारा संसार बनने लगा।

जिस अवस्था में ज्ञान स्वरूप चेतन गुण को अपना स्वरूप स्वीकार कर लेता है, वहाँ से सारे अनर्थ शुरु हो जाते हैं। गुण को गुण रूप में मानें तो वहाँ कोई बन्धन वा दोष नहीं है। दोष वहाँ होता है जहाँ मोह व भ्रमवश वह गुण को ही अपना स्वरूप समझ लेता है। यह भ्रम क्यों पैदा होता है? सीमा के नाते। सीमित चित्त में प्रकट होने वाला चेतन भी सीमित सा हो जाता है, इसी अल्पज्ञता के नाते उसमें दोष का जन्म होता है। यह दोष ही उसमें अस्मिता को जन्म देता है जो समस्त

दु:खों का कारण है। इस दृष्टि से जब आप मनन करेंगे तो आपको पता चलेग। कि दोष से मुक्त होने के लिए योगदर्शन कितने विस्तार में, कितनी स्पष्ट बातें बता रहा है। योगदर्शन का प्रयोजन इसी अविद्या को दूर करने के लिए है, यह उसके शमन के साधन की व्याख्या करता है जो कि आप लोगों को क्रमशः बताया जाएगा।

हरि ॐ तत्सत्

३

मेरी प्रिय आत्माओ!

कल आप को बताया था कि योगदर्शन आपके जीवन की क्रियात्मक वा व्यवहारिक बातें समझाता है। उसका सन्देश है कि अविद्या का नाश होने पर ही व्यक्ति सुखी हो सकता है। अविद्या का नाश पूर्ण विवेक के प्रकाश में ही होगा ऐसा योगदर्शन का मत है। अविद्या चित्त की एक वृत्ति का नाम है। चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। विपर्यय वृत्ति को ही अविद्या कहते हैं। योगदर्शन में विपर्यय और अविद्या को एक बताते हुए इनके लक्षण बताए हैं। विपर्यय किसे कहते हैं?

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

—यो०सू० १/८

जो वस्तु जैसी है उसे उस रूप में न देख कर उसके विपरीत अन्य रूप में समझना ही विपर्यय वृत्ति है। जैसे सीपी में चाँदी को मान् लेना, रेगिस्तान के रेत में उठने वाली लहर को सही जल मान लेना, रस्सी को सर्प मान लेना तथा अन्धेरे में ठूठ को भूत समझ लेना आदि। विपर्यय माने जो वस्तु है नहीं पर उसे वहाँ सत्य मान लेना। इसका अभिप्राय यह नहीं कि चाँदी नहीं, जल नहीं, सर्प नहीं तथा भूत नहीं, सभी हैं पर जहाँ

हम उन्हें देख रहे हैं वहाँ नहीं हैं। इसको विपर्यय वा मिथ्या ज्ञान कहते हैं। विपर्यय का एक अर्थ मोह भी होता है। मुह वैचितै—जो वस्तु जहाँ नहीं है, उसको वहाँ मान लेना ही मोह है। विपर्यय, मोह और अविद्या, ये पर्यायवाची शब्द हैं। विपर्यय वृत्ति है और उसी में ही मोह जागृत होता है जिसे अविद्या कहते हैं। अविद्या चित्त की अवस्था है। अविद्या से ही अस्मिता पैदा होती है। अविद्या वृत्ति का नाश करने के लिए केवल प्रमाण वृत्ति ही साधन है। प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। कहीं इसके चार प्रकार माने जाते हैं और कहीं छः भी। पूर्व मीमांसा ने छः और न्याय ने चार प्रमाण माने हैं। ये चार या छः प्रमाण प्रकारान्तर से इन्हीं तीन के अन्दर आ जाते हैं, इसलिए मुख्य तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। अब इनमें परम प्रमाण कौन-सा है, इसके लिए अलग-अलग मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि आगम प्रमाण ही परम प्रमाण है क्योंकि अज्ञात तत्त्व का ज्ञापन कराना ही आगम का प्रयोजन है।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

—यो०सू० १/७

प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ यहाँ आगम शब्द का प्रयोग वेद के लिए हुआ है। ईश्वरीय सन्देश होने के नाते वेद परम प्रमाण है। ईश्वर ने सन्देश किसे दिया? इसके उत्तर में हम प्राचीन ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में वह ऋषियों को प्राप्त हुआ और वही गुरु-शिष्य परम्परा से अनादिकाल से चला आ रहा है, इसमें तर्क की आवश्यकता नहीं है। तुलसीदास जी कहते हैं—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका।
परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

जो तर्क द्वारा वेद में दोषारोपण करते हैं, वे कल्पों तक नरक में

निवास करते हैं। पुराणों में १०८ नरक बताए गए हैं। ऐसे लोग १०८ कल्प तक नारकीय यातना भोगते हैं। यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि तुलसीदास जी ने वेद के लिए जो तर्क की बातें कही हैं, वे कुतर्क व दोष दृष्टि से ही सम्बन्धित हैं क्योंकि युक्ति और तर्क के द्वारा तो वेदार्थ को समझने का हमारे शास्त्रों में विधान है, जैसा कि मनु महाराज कहते हैं—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

—मनुस्मृति १२/१०६

जो तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है दूसरा नहीं। मनु का कथन है कि तर्क किए बिना कभी धर्म का यथार्थ बोध नहीं हो सकता इसलिए तर्क और युक्ति का आश्रय लेना चाहिए। हमारे यहाँ वैदिक विज्ञान का अनुसंधान करने के लिए अलग से तर्कशास्त्र का निर्माण हुआ है। मेरे से यदि पूछोगे तो मैं कहूँगा कि तर्क द्वारा जो सिद्ध है, वही वैदिक विज्ञान है। जो तुम्हारी छोटी सी बुद्धि के अनुकूल नहीं पड़ रहा, वह किसी बड़ी बुद्धि का काम होगा, ऐसा मैं नहीं मानता। हाँ, यह बात जरूर है कि तुम्हारी बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच सकती पर जहाँ तक पहुँचती है वहाँ तक तो सत्य का बोध होना ही चाहिए। सारांश यह है कि आगम प्रमाण तर्कसंगत तथा युक्तियुक्त होने से ही सर्वथा ग्राह्य तथा परम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, अन्धविश्वास के आधार पर नहीं किन्तु योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण ही अनुमान और आगम इन दोनों प्रमाणों का आधार है। यह तो सबका जाना हुआ सत्य है कि प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम किसी तत्त्व का अनुमान लगा पाते हैं और आगम शास्त्र के प्रतिष्ठाता ऋषियों को 'प्रत्यक्ष धर्मा ऋषयः' के रूप में स्मरण करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वैदिक विज्ञान के रूप में जो कुछ भी मान्य है वह प्रत्यक्षधर्मा ऋषियों

की प्रत्यक्ष अनुभूति का संकलन है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

यहाँ पर यह आशंका हो सकती है कि यदि वैदिक विज्ञान ऋषियों की प्रत्यक्ष अनूभूति है तो यह अपौरुषेय और ईश्वरीय कैसे हो सकता है? इस विषय में मेरा मत है कि ज्ञान तो सदैव अपौरुषेय और ईश्वरीय ही हुआ करता है, वह किसी के पौरुष का परिणाम नहीं। ज्ञान चेतन का धर्म है और चेतन ही ईश्वर है। ईश्वर का अर्थ है ईशन व शासन करने वाला। ईशन करने का अभिप्राय होता है व्यवस्था करना। व्यवस्था करना चेतन का काम है। वह किसकी व्यवस्था करता है? जड़ की अर्थात् प्रकृति की। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गुण को व्यवस्थित करना ही ज्ञान का सहज धर्म है। ज्ञान चेतन का स्वभाव है। चेतन ही ईश्वर है, इसलिए ज्ञान ईश्वरीय है। अपने इस शरीर का संचालन करने वाला भी ईश्वर है जिसे आत्मा कहते हैं। भगवान् ने गीता के १३वें अध्याय में बताया है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

—गीता १३/२२

इस शरीर के अन्दर रहने वाला परम पुरुष कई रूपों में रहता है। उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा आदि सारे उसी के नाम हैं। इसका अभिप्राय है कि समग्र ज्ञान ईश्वरीय है। हमारे शास्त्रकारों ने बताया है कि वेद माने ग्रन्थ नहीं ज्ञान होता है। वैदिक मन्त्र के तीन पहलू बताए हैं—देवता, ऋषि और छन्द। इन तीनों के यथार्थ ज्ञान से ही वैदिक विज्ञान का बोध होता है, इनमें देवता हैं विषय। उस विषय का अनुसंधान करने वाला है ऋषि तथा जिस प्रक्रिया से उसका अनुसंधान किया गया है उसको छन्द कहा गया है। एक मन्त्र के एक ऋषि नहीं कई ऋषि हुए हैं। ऋग्वेद में कई ऐसे सूक्त हैं जिनके अनेक

ऋषि हैं, कईं ऐसे मन्त्र हैं जिनके अनेक ऋषि अर्थात् अनुसंधानकर्ता हुए हैं। इस प्रकार जब एक मन्त्र का एक ऋषि नहीं है तो मन्त्र ऋषि की कृति है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? किसी भी तत्त्व का अनुसंधान ऋषि ही कर सकते हैं जैसा कि हम वर्तमान में भौतिक विज्ञान के अनुसंधानकर्ता वैज्ञानिकों को देखते हैं। इलैक्ट्रिसिटी का अनुसंधान कई वैज्ञानिकों के प्रयोग से ही हुआ होगा। अनुसंधान की क्षमता तथा योग्यता तो प्रत्येक व्यक्ति में है ही।

हमारे यहाँ ऐसा मानते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में सतोगुण प्रधान था जिसके नाते व्यक्ति की प्रवृत्ति स्वतः ही अनुसंधान की ओर जाती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में पढ़ते हैं कि ऋषि लोग आपस में बैठकर विचार करते हैं—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता,
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।

—श्वेता० १/१

जो लोग वेद को ईश्वर प्रदत्त ज्ञान मानते हैं, उनको यह विचार करना चाहिए कि यदि वेद को ईश्वर ने स्वयं प्रकाशित किया है तो उन ऋषियों को इस विषय में खोज करने की क्या आवश्यकता थी? फिर तो अनुसंधान करने की प्रवृत्ति ही न होती। परमात्मा सबको ज्ञान दे देता, बात चलती रहती। सृष्टि की व्यवस्था में अनुसंधान का महत्त्व ही समाप्त हो जाता। जैसा कि हम मानते हैं कि वेद परमात्मा का ज्ञान है तो इसका अभिप्राय है कि चेतन परमात्मस्वरूप है और इसका धर्म है ज्ञान। परमात्मा ही चेतन का स्रोत है। जीव का जीवत्व ईश्वर से है क्योंकि गीता के १३वें अध्याय में भगवान् ने बताया है कि—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

—गीता १३/१६

सम्पूर्ण प्राणियों में अविभक्त होता हुआ भी विभक्त-सा दिखाई देता है। १३वें अध्याय के अन्त में भगवान् ने बताया कि जैसे एक ही सूर्य अनेक प्राणियों के नेत्रों को ज्योति प्रदान कर रहा है, करोड़ों, खरबों आँखें बनती जायें, सूर्य को ज्योति देने में कोई कठिनाई नहीं आएगी। इसी रूप से इस सृष्टि में अनन्त चित्तों का निर्माण होता जाता है और उसमें उसी चेतन की सत्ता प्रकट होती जाती है। तुलसीदास जी ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—

जिमि घट कोटि एक रवि छाई।

जैसे करोड़ों घड़ों में एक ही सूर्य का प्रकाश है। यदि असंख्य घड़ें बन जाएँ तो सूर्य के प्रकाश में कोई कमी नहीं आने की। यदि सभी घड़े एक साथ टूट जायें तो भी सूर्य का प्रकाश वहीं रहता है। इसी प्रकार अनन्त चित्त बनते जाते हैं और उनमें चेतन प्रकाशित होता जाता है। चित्त के माध्यम से प्रकट हुए चेतन की संज्ञा ही जीव है। जीव कोई अलग तत्त्व नहीं है क्योंकि यदि आप जीव और ईश्वर दोनों को ही ज्ञान स्वरूप मानते हैं, दोनों को ही निरवयव मानते हैं तो इस विषय में गम्भीरता से विचार करके देखें कि ज्ञानस्वरूप और निरवयव दो चेतन कैसे हो सकते हैं? निरवयव होने से जैसे आकाश दो नहीं हो सकता वैसे ही तत्त्वतः चेतन दो नहीं हो सकता। उपनिषदों में कहा गया है कि—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २/१

उस आत्मा से ही आकाश सम्भूत हुआ है अर्थात् वह आकाश से भी सूक्ष्म है। यही बात श्वेताश्वतरोपनिषद् में कही गई है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/८

जिसमें समस्त देवगण भली-भाँति स्थित हैं, उस अविनाशी परम व्योम में सम्पूर्ण वेद स्थित हैं, जो उसको नहीं जानता वह ऋचा द्वारा क्या सिद्ध करेगा परन्तु जो उसको जानते हैं वे तो सम्यक् प्रकार से उसी में स्थित हैं। इस मन्त्र में कथित परम व्योम शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। दूसरे शब्दों में परम व्योम वह परमात्मा है जिसे दिव्य व्योम या चिदाकाश कहते हैं। जो चिदाकाश है वही परम व्योम है।

यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

ये अनन्त देवता माने अनन्त दिव्य शक्तियाँ जिसमें निहित हैं, जिसमें प्रकट होती हैं, 'यस्तं न वेद', जिसने उस परम दिव्य को नहीं जाना 'किमृचा करिष्यति', वह ऋचाओं द्वारा क्या करेगा? यजुर्वेद में परमात्मा के लिए 'ॐखं ब्रह्म' ऐसा कहा गया है, जिसका अभिप्राय है परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। यह जीव भी उसी का अंश है। कुछ लोगों के विचार से जीव अणु मात्र है। यदि वह अणु मात्र है तो उसमें अवश्य ही कुछ और होगा और यदि वह ज्ञान-स्वरूप है तो उसमें कुछ हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञान अणुमय हो नहीं सकता। यह तो आज का विज्ञान भी नहीं मानता कि ज्ञान अणुमय है क्योंकि यदि अणु को तोड़ दिया जाए तो उसमें इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन की उपलब्धियाँ होंगी और उनका कारण एनर्जी है। इसलिए यह कह देना कि अणुमात्र ही जीव का स्वरूप है, केवल कल्पनागम्य बात है न कि तत्त्वगम्य। वेद इसे स्वीकार नहीं करता, उपनिषदें भी इसे स्वीकार नहीं करती। यदि आप कहें कि कहीं-कहीं उपनिषदों में जीव को अणुमात्र कहा गया है तो यहाँ पर जीव की उस अवस्था की बात है जिसमें वह चित्तगत होता है। चित्त

अणुमात्र है और चित्त के माध्यम से चेतन का आविर्भाव भी अणुमात्र प्रतीत होता है।

चित्त को आजकल की वैज्ञानिक भाषा में ज़ीन कहते हैं। उस ज़ीन में जो चेतन है उसका व्यक्तिगत अस्तित्त्व होता है। वैज्ञानिकों ने यह खोजा है कि उसी में सारे संस्कार माता-पिता के आकर पड़ते हैं। ज़ीन का स्वरूप क्या है? एक बूँद वीर्य का पाँच अरबवाँ हिस्सा कीजिए। एक बूँद वीर्य का पाँच अरबवाँ हिस्सा है यह जीव। इतना सूक्ष्म है कि उसे अणु से भी अणु कहा जा सकता है। यह है चित्त का स्वरूप। यदि चित्तगत चेतन को आप जीव मानते हैं तो उसी को आप दिव्य मान लो तो वह आप की समझ की बात है किन्तु यह याद रखो कि चित्त नित्य तत्त्व नहीं है वह प्रकृति का परिणाम है।

जहाँ अनेकता, भिन्नता या नानात्व है, उपनिषद् की भाषा में वह सत्य नहीं है। नानात्व प्रकृति का धर्म है चेतन का धर्म नहीं है। नानात्व जहाँ है वहाँ सीमा, अज्ञान तथा दुःख है। कुछ लोगों ने मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहा कि जीव ईश्वर में लीन नहीं हो सकता क्योंकि वह अणु स्वरूप है। मेरे विचार से इस प्रकार की कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि जो अणु है वह विभु का ही अंश है, लीन कहाँ होना है? वह तो ऊपर-नीचे, आगे-पीछे वहीं है। जो ऐसा कहते हैं कि अणु स्वरूप जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, उनसे पूछो कि यदि तुम अणु का अलग अस्तित्त्व मानते हो तो जितनी मात्रा में अणु है उसमें ईश्वर व्याप्त है या नहीं? यदि नहीं तो ईश्वर सर्वव्यापी नहीं हो सकता। जितनी मात्रा में अणु रूप जीव का अस्तित्त्व अलग मानोगे उतनी मात्रा में तो ईश्वर व्याप्त नहीं होगा। यदि वहाँ भी ईश्वर व्याप्त है तो कितने अंशों में आप ईश्वर को व्याप्त मानते हो और कितने अंशों में जीव का अलग अस्तित्त्व मानते हो? मेरे विचार से जैसे नमक में खारापन व्याप्त है, मिसरी में मिठास व्याप्त है, इसी प्रकार इस विश्व में परमात्मा व्याप्त है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि
रापः स्त्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।

—श्वेता० १/१५

इस प्रकार के उपदेश हैं उपनिषदों और वेदों में। यही बात ईशोपनिषद् में कही गई है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

—ईशा० १

'यत्किञ्च' माने कहीं भी जो कुछ भी है सब में वह ईश्वर व्याप्त है। जब सबमें वही व्याप्त है तो जो कुछ भी होगा वह उसी की अभिव्यक्ति होगी, भिन्न सत्ता के लिए गुजांइश ही कहाँ रह गई? अब यहाँ पर इस प्रश्न का समाधान करते चलें तो ठीक होगा। प्रश्न है कि यदि एक परमात्मा सबमें व्याप्त है तो एक ज्ञानवान और दूसरा अज्ञानी कैसे हो सकता है?

वर्तमान के विज्ञान ने आप को समझा दिया कि एक एनर्जी की अभिव्यक्ति ही समस्त धातुएँ हैं। वही लोहा, सोना, ताँबा, पीतल और पत्थर है। वैज्ञानिकों ने कहा कि एक तत्त्व के १०५ रूप हैं। एनर्जी एक ही है जोकि १०५ रूपों में प्रकट होती है। यह विभिन्नता कैसे हो ज़ाती है? हमारे रासायनशास्त्र में ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिससे ताँबे को सोना और सोने को ताँबा बनाया जा सके। पहले वैज्ञानिक इसे मानते नहीं थे लेकिन अनुसंधान करते-करते जिस स्तर पर पहुँचे हैं, अब इसे मानने लगे हैं। वे कहते हैं कि सभी धातुओं का मूल तत्त्व एक है परन्तु विभिन्न धातुएँ परमाणुओं की मात्रा व भेद के कारण बनती हैं। इलैक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन का जो स्वरूप है, इनकी मात्रा में जब भेद हो जाता है तो अलग धातु तैयार हो जाती है। यही सांख्यदर्शन लाखों वर्षों से बता रहा है कि तीन गुणों की न्यूनता या अधिकता से अनन्त रूप बन जाते हैं। सृष्टि का वैभिन्य और वैचित्र्य तीन गुणों के द्वारा ही है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां।
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥

—श्वेता० ४/५

वेद कहता है कि एक प्रकृति ही अनन्त रूपों में प्रकट होती है। एक आम को ही लीजिए उसमें कितनी किस्में हैं और आगे कितनी होंगी, इसकी कोई सीमा है? कोई सीमा नहीं है। इसी रूप से जैसे—

एकं बीज बहुधा यः करोति।

—श्वेता० ६/१२

एक ही तत्त्व को वह अनेक रूपों में प्रकट करता है। वह प्रकट कैसे होता है? चेतन के प्रकाश में प्रकट होने वाला तत्त्व क्या है? प्राकृतिक गुण। गुण सदैव गुणी पर आश्रित होता है। गुणी से भिन्न गुण का कोई अस्तित्त्व नहीं है इसलिए उपनिषद् कहता है—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत॥

—श्वेता० ६/१०

जो एक देव मकड़ी के समान स्वाश्रित प्रकृति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन कर स्वयं को उसी से आवृत्त कर लेता है। अभिप्राय उसके माध्यम से जीव रूप में प्रकट होता है अर्थात् चित के माध्यम से प्रकट होने वाली चेतना की ही जीव संज्ञा है।

प्रश्न : क्या चित्त दृश्य है?

उत्तर : हाँ, चित्त दृश्य है। चित्त यदि दृश्य न हो तो सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में उसका भेद ही न किया जाए। योगदर्शन का एक सूत्र आगे आएगा।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

—यो०सू० ३/५५

सत्त्व और पुरुष जब ये दोनों शुद्ध हो जाते हैं तब कैवल्य की स्थिति प्राप्त होती है। जब चेतन चित्त से अपने को अलग अनुभव करता है तभी तो वह उससे स्वरत होता है। यदि चित्त दृश्य नहीं होगा तो चेतन स्वयं को उससे अलग नहीं कर सकेगा।

प्रश्न : क्या चित्त सभी समान होते हैं?

उत्तर : नहीं, चित्त तत्त्वतः समान होते हैं लेकिन उनमें गुण भेद से धर्म भेद हो जाता है। सतोगुण यदि प्रबल हो गया तो यह तमोगुण और रजोगुण को अपने अधीन कर लेता है। रजोगुण यदि प्रबल हो गया तो सतोगुण तमोगुण को अपने अधीन कर लेता है। तमोगुण यदि प्रबल हो गया तो रजोगुण सतोगुण को अपने अधीन कर लेता है। तो जिस गुण से अभिभूत चित्त होगा उसी के अनुसार चित्त का रंग हो जाएगा, चित्त की वृत्तियाँ हो जायेंगी। जन्मना-मरना, यह सब चित्त के प्रवाह में है।

प्रश्न : क्या चित्त को ही जीव कहते हैं?

उत्तर : नहीं, चित्तगत चेतन को जीव कहते हैं, यही तो मैं बता रहा हूँ। चित्त को न जड़ कहते हैं न चेतन। यह उस स्तर की अभिव्यक्ति है कि जहाँ उसका निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि चित्त गुणात्मक है। गुणात्मक इसलिए कहते हैं—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

—यो०सू० २/२२

जो जीव कृतार्थ हो जाते हैं, जिन्हें चित्त और चेतन की भिन्नता का पूरा बोध हो गया, उनके लिए—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिती॥

—यो०सू० ४/३४

उनका चित्त अपने कारण में लय हो जाता है अर्थात् गुण गुणी में

लय हो जाता है। प्रतिप्रसव माने अपने प्रसव के प्रति यानी जहाँ से वह प्रकट हुआ है उसी में लीन हो जाता है—'नाशो कारण लयः'। नाश माने अभाव नहीं। सांख्य दर्शन मानता है कि कार्य का कारण में लय हो जाना नाश है। व्याकरण भी यही मानता है।

नश अदर्शने अदर्शनं लोपः।

—*ल०सि०कौ० १/१/६०*

नश का अर्थ है अदर्शन और अदर्शन का अर्थ लोप होना है। त्रिगुण ही चित्त के कारण हैं इसलिए चित्त का लय प्रकृति में होता है। इसी क्रम को कठोपनिषद् में भी समझाया गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्नः परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

—*कठ० १/३-११*

विषय, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त तथा पुरुष का विवेचन है। इस क्रम में बुद्धि से परे महानात्मा है जिसे महतत्त्व कहते हैं। उसी महतत्त्व की ज्ञानात्मिका वृत्ति का नाम बुद्धि है, स्थिति वृत्ति का नाम अहं है और संकल्पात्मिका वृत्ति का नाम मन है। बुद्धि, अहं और मन चित्त की व महानात्मा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। पहले ज्ञानात्मिका वृत्ति का जागरण होता है जिसे बोधात्मिका वृत्ति बुद्धि कहते हैं, फिर स्थिति वृत्ति का जागरण होता है जिसे अहं कहते हैं, फिर उसमें संकल्प का जागरण होता है जिसे मन कहते हैं। अहं और मन से बुद्धि को इसलिए माना है क्योंकि बोधात्मिका वृत्ति के बिना स्थिति वृत्ति का उदय नहीं हो सकता और उसके बिना संकल्प वृत्ति का। तीनों वृत्तियाँ उसी चित्त से प्रकट होती हैं। बुद्धि ही प्रमाण वृत्ति है, उसमें यदि विपर्यय हो गया तो सारा का सारा ज्ञान उल्टा हो जाएगा और अहं को ही शुद्ध चेतन मानकर शरीर को या आकृति को ही उसका स्वरूप मान लिया जाएगा। अहं

और अहंकार दोनों अलग–अलग चीज़ें हैं। अहं जब आकार में बंधता है तो उसे अहंकार कहा है, उसी से अभिमान का भी उदय होता है—

अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

—*ईशा० ११*

'अभितः मानम्' अर्थात् अहं जब अपने को घेरे में बाँध लेता है तो उसे अभिमान कहते हैं। अहंकार और अभिमान, ये चित्त के नीचे की अवस्थाएँ हैं। विशुद्ध चित्त की अवस्था में पहुँचने पर योगी देखता है कि चित्त तो माध्यम है, यह अव्यक्त का परिणाम है, उस स्थिति में वह चित्त से परे हो जाता है और आश्रयहीन चित्त अपने कारण में ही लय हो जाता है। उस स्थिति में योगी 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है।

प्रश्न : क्या चित्त प्रकृति में लय होता है?

उत्तर : हाँ, चित्त प्रकृति में ही लय होता है। प्रकृति को कहते तो जड़ हैं लेकिन प्रकृति गुणात्मिका है और गुण की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए हम उसको न जड़ कह सकते हैं न चेतन। सांख्य तत्त्व का विवेचन करता है और वेदान्त ब्रह्म का। तत्त्व की अभिव्यक्ति ज्ञान और गुण के रूप में होती है इसलिए सांख्य ज्ञान और गुण की बात करता है। ज्ञान और गुण जिस सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं उसे ब्रह्म कहते हैं, उसी की बात वेदान्त करता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में श्वेताश्वर के ऋषियों ने प्रश्न किया है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ॥

—*श्वेता० १/१*

ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' भी इसी से ब्रह्म को जानने, समझने की दिशा में प्रेरित करता है। उपनिषदों का सार ही ब्रह्मसूत्र में निरूपण किया गया है।

योगदर्शन भी आपको यही समझा रहा है कि अविद्या एक वृत्ति है जो कि चार रूपों में आपके सामने आती है। अनित्य को आप नित्य मान लेते हैं, दुःख के साधन को आप सुख का साधन मान लेते हैं, अपवित्र को पवित्र मान लेते हैं और अनात्मा को आप आत्मा मान लेते हैं। गुण के धर्म को आप ज्ञान का धर्म मान लेते हैं और ज्ञान के धर्म को आप गुण में आरोपित कर देते हैं। यहाँ पर गुण तथा ज्ञान का धर्म समझ लें। यजुर्वेद का कथन है—

विद्यां चाविद्या च यस्तद् वेदोभयः सह।

—ईशा० ११

विद्या माने ज्ञान और अविद्या माने गुण। वेद का कथन है कि गुण और ज्ञान दोनों तत्त्वों को जो साथ-साथ जानता है, वही गुण के पदार्थ ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण कर ज्ञान के प्रकाश में अमृत तत्त्व का उपभोग करता है। योगदर्शन में प्रत्यक्ष ही परम प्रमाण है। आँख का प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि अक्ष शब्द का प्रयोग योगदर्शन में बुद्धि दृष्टि के लिए किया गया है। उपनिषदों में भी बुद्धि के लिए ही अक्ष शब्द का प्रयोग है। उपनिषदों में जो 'ये नस्तद् विचचक्षिरे' शब्द है, वह भी बुद्धि दृष्टि के विषय में ही कहा गया है। जिन्होंने इसे प्रत्यक्ष कराया है वह आँख से नहीं बुद्धि दृष्टि से कराया है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि इस आँख से तू मुझे नहीं देख सकता इसलिए मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूँ। दिव्य दृष्टि माने बुद्धि दृष्टि जिसे तीसरी आँख भी कहते हैं। उपनिषदें कहती हैं—

दृष्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

—कठोपनिषद् १/३-१२

सूक्ष्मतम दृष्टि से सूक्ष्मतम तत्त्वों का जो साक्षात्कार होता है, उसी का नाम है दर्शन। जिसने इस दर्शन दृष्टि को प्राप्त कर लिया है, उसको

हमारे यहाँ प्रत्यक्ष धर्मा कहते हैं। जो प्रत्यक्षधर्मा हैं, वे ही ऋषि हैं। योगदर्शन आपको ऋषित्व प्रदान करने की शर्त लगाए बैठा है। उसका कहना है कि आप मेरे बताए हुए रास्ते पर चलें, मैं आपको ऋषि बना दूँगा। यह योगदर्शन कहता है मैं नहीं कहता। मैं उस प्रक्रिया को जानता हूँ और बता सकता हूँ।

हरि ॐ तत्सत्

४

मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु का करुणामय विधान आप सबके लिए कल्याण का सृजन करे, यही मेरी शुभकामना। आप लोगों को बताया था कि अविद्या ही समस्त दुःखों की जड़ है। अविद्या से ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष आदि क्लेशों का उदय होता है, इसलिए योगदर्शन मानता है—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां।

—यो०सू० २/४

अविद्या ही क्लेशों की जननी है। अविद्या है क्या? इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं लेकिन योगदर्शन का मत है अविद्या माने विपर्यय वृत्ति। अविद्या चित्त की विपर्यय वृत्ति का नाम है। कुछ लोग अविद्या का अर्थ यहाँ पर आत्मा की शक्ति से करते हैं परन्तु योगदर्शन में प्रयुक्त अविद्या शब्द उस शक्ति के अर्थ में नहीं है क्योंकि जो अविद्या समस्त क्लेशों को उत्पन्न करती है, वह ईश्वरीय शक्ति नहीं हो सकती। ईश्वर आनन्दस्वरूप है जैसा वेद कहता है—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति॥

—तैत्तिरीय० २/४

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, वह सच्चिदानन्द है, इसलिए वहाँ पर क्लेश और दुःख के लिए स्थान ही नहीं, वहाँ से उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सत्यकार्यवाद की दृष्टि में ब्रह्म से इस प्रकार की शक्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता जो जीव के लिए क्लेशप्रद और पीड़ाप्रद हो, इसलिए

योगदर्शन में प्रयुक्त अविद्या शब्द परमात्मा की शक्ति का नाम नहीं है। जहाँ पर अविद्या वेद में परमात्मा के चतुष्टपाद का नाम है वहाँ अविद्या माने क्लेशमूल नहीं अपितु अविद्या माने प्रकृति है।

जिसमें स्वयं का बोध न हो उसको अविद्या कहा गया है। अविद्या क्षरभाव है यथा—**क्षरं त्वविद्या**। *(श्वेता० ५/१)* वेद में अविद्या शब्द का प्रयोग क्षर के लिए आया है। क्षर माने अष्टधा प्रकृति। अष्टधा प्रकृति किसी के दुःख का कारण नहीं है क्योंकि यह गुणात्मक है। दुःख का कारण दोष है, गुण नहीं। अभिप्राय यह कि वेद और उपनिषद् में अविद्या शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि माया ही अविद्या है। माया शब्द का अर्थ भी कुछ विद्वानों ने अपने ढंग से किया है। 'मा' माने नहीं 'या' माने जो अर्थात् जो नहीं है उसे माया कहते हैं किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता क्योंकि माया एक यौगिक शब्द है। 'मा' धातु है जो मापने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, इसी से माया शब्द निष्पन्न हुआ है। माया शब्द का अर्थ होता है जो अमापी को माप में व्यक्त करे। अमापी को माप में व्यक्त करने की शक्ति का नाम ही माया है। वह माया परमात्मा की शक्ति है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

— गीता ४/६

''मैं अपनी प्रकृति को माध्यम बनाकर आत्म माया द्वारा स्वयं को प्रकट करता हूँ।'' जो अप्रकट को प्रकट करती है, उस शक्ति का नाम माया है। वह माया परमात्मा की अभिन्न शक्ति है, इसलिए—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

— श्वेता० ४/१०

मैं आपको यही बता रहा था कि योगदर्शन में अविद्या जीव के चित्त की विपरीत वृत्ति है अर्थात् व्यष्टि चित्त की विपर्यय वृत्ति का नाम

अविद्या है, समष्टि चित्त में अविद्या के लिए कोई स्थान नहीं है। जहाँ ब्रह्म के चार पाद बताए गए हैं—अविद्यापाद, विद्यापाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद, वहाँ पर अविद्या माने अष्टधा प्रकृति और विद्या माने चेतना शक्ति है। अविद्यापाद को गीता के सातवें अध्याय में अपरा प्रकृति और विद्यापाद को पराशक्ति कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

—गीता ७/५

जीवात्मिका या ज्ञानात्मिका शक्ति विद्यापाद और जड़ात्मिका वा गुणात्मिका शक्ति अविद्यापाद है। विद्या तथा अविद्या पाद से परे आनन्दपाद है। अनन्तता ही आनन्द का स्रोत है। सत्तात्मक परम नित्य तत्त्व को तुरीय कहते हैं। सत्ता, अनन्तता और विद्या, ये तीनों अमृत हैं, इसलिए ऋग्वेद कहता है कि ये तीनों पाद अमृतमय हैं और अविद्या गुणात्मक होने के नाते परिवर्तनशील तथा मृत है। इस बात को समझकर यदि आप लोग ध्यान में रखेंगे तो अविद्या शब्द को पकड़कर घपला नहीं करेंगे। वेद की अविद्या यदि योगदर्शन में लें आएंगे तो महा अनर्थ हो जाएगा। योगदर्शन की अविद्या यदि वेद में ले जाएंगे तो महा अनर्थ हो जाएगा। एक बात याद रखो, हमारे जितने दर्शन हैं, उन सबके अपने-अपने पारिभाषिक शब्द हैं। एक शब्द को देख करके एक ही अर्थ सब जगह नहीं किया जा सकता। अलग-अलग दर्शन में एक ही शब्द का प्रयोग किया गया है और उसके अनुरूप इसका विवेचन किया गया है। यहाँ पर मैंने आपको बताया है कि योगदर्शन में—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छीन्नोदाराणाम्।

—योगसूत्र २/४

समस्त क्लेशों की जननी अविद्या विपर्यय वृत्ति है जो अस्मिता

को जन्म देती है। अस्मिता से राग और राग से द्वेष का जन्म होता है। राग, द्वेष और अस्मिता मिलकर अभिनिवेश को जन्म देते हैं। अब सुनिए, विपर्यय वृत्ति का जन्म किस प्रकार होता है।

विपर्यय वृत्ति चित्त में है। तमोगुण की अधिकता और रजोगुण के मिश्रण से विपर्यय वृत्ति का आविर्भाव होता है। विपर्यय वृत्ति का जन्म अस्मिता के रूप में होता है इसलिए अस्मिता अविद्या की सन्तान है। हमारे में अहं की स्फूर्णा कब होती है? जब चेतन के प्रकाश में चित्त अविर्भूत होता है तो पहले बोधात्मक स्फूर्णा होती है जिसे बुद्धि वृत्ति या बौद्धिक चेतना कहते हैं। बौद्धिक चेतना की सन्तान है अहं चेतना और अहं चेतना की सन्तान है मनस् चेतना। जितने साधन हैं सब मनस् चेतना को अहं चेतना में और अहं चेतना को बौद्धिक चेतना में लय करने के लिए हैं क्योंकि मनस् चेतना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर है। कठोपनिषद् में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

—कठोपनिषद् २/१-१

परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर किया है, इसलिए यह बाहर ही देखती हैं अन्दर नहीं देख पाती। कोई धीर पुरुष इन्हें अन्दर की तरफ मोड़ दे तभी वह अन्तर के रहस्य को समझ पाता है, नहीं तो ये बाहर के विषय ही देखती रहती हैं और उसी में मन घूमता रहता है। मनस् चेतना की स्थिति में जब मन के साथ अहं लग जाता है तो जो मन कहता है वही अहं मान लेता है। जब अहं की अनुगामिनी बुद्धि हो जाती है तो वह अपने स्थान से च्युत हो जाती है। यही बौद्धिक पतन है जो जीवन के पतन में कारण बनता है।

बुद्धि का मनोविज्ञान की दृष्टि से जब हम विश्लेषण करते हैं तो आगे बौद्धिक चेतना के भी तीन स्तर हैं। ऐसा ज्ञात होता है, जिनको हम बुद्धि, प्रज्ञा और प्रतिभा कहते हैं, इन्हीं को अंग्रेजी में इंटलैक्ट, विज़डम और इंटयूशन कहा जाता है। अहं की समर्थिका बुद्धि को इंटलैक्ट कहते हैं लेकिन जब वो इंटलैक्ट अहं का साथ छोड़कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, उस समय उसकी संज्ञा प्रज्ञा होती है। वही प्रज्ञा जब ऊर्ध्वमुखी होती है अर्थात् जिससे उसे प्रकाश प्राप्त हो रहा है या जिससे उसमें चेतना शक्ति बह रही है, उसका अनुभव करने लगती है, उस समय उसका नाम पड़ जाता है प्रतिभा। प्रतिभा माने होता है स्वयं के कारण को प्रकाशित करने वाली बुद्धि। जैसे प्रतिसर्ग होता है—'गुणानां प्रतिप्रसवः' गुणों का प्रतिप्रसव माने अपने कारण की तरफ मुड़ना। ठीक उसी प्रकार प्रतिभा माने अपने कारण को प्रकाशित करना। कारण का अवबोध कराने वाली जो बुद्धि है, उसका नाम प्रतिभा है। असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में प्रज्ञा की प्रतिष्ठा होती है। प्रज्ञा माने वह विशुद्ध स्थिर बुद्धि जिससे सम्पूर्ण ज्ञेय तत्त्व जान लिया जाता है। जब उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता तब वह अपने कारण की तरफ मुड़ जाती है और प्रतिभा की अवस्था प्राप्त कर लेती है। जितने तर्क-वितर्क हैं, सब निचले स्तर की बुद्धि के व्यायाम हैं। प्रज्ञा में प्रश्न नहीं होता क्योंकि प्रज्ञा में सब कुछ जाना हुआ होता है। वहाँ प्रश्न कौन करेगा और क्यों करेगा? सारे तर्क-वितर्क बुद्धि तक सीमित हैं। जब तक साधक इससे ऊपर नहीं उठता तब तक वह आगे की बात समझ नहीं सकता। उपनिषदें कहती हैं, यह बुद्धि जिससे जानने की शक्ति प्राप्त करती है, जो बुद्धि द्वारा जाना नहीं जा सकता, उसे ब्रह्म कहते हैं। मन जिससे मनन करने की शक्ति प्राप्त करता है, जो मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता, उसे ब्रह्म कहते हैं।

हमारी साधना का क्रम मन से ऊपर उठने का है लेकिन अहं में उसकी स्थिति है। अहं की सन्तान मन है। मन को कण्ट्रोल आप अहं से कर सकते हैं। अहं से ही सारी दुनिया का व्यापार चलता है, इसलिए सांख्य मानता है—

अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः ॥

—सांख्यदर्शन ६/५४

सारे कर्म अहंकार से होते हैं, पुरुष अर्थात् चेतनकर्त्ता से नहीं, अहं कर्त्ता है। इसी को भगवान् ने गीता में स्वीकार किया है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

—गीता ३/२७

अहंकार की अवस्था में विमोहित हुई आत्मा अपने आपको कर्त्ता मानती है, क्योंकि सारे कर्म यहीं से शुरु होते हैं। 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इसलिए कहा है क्योंकि अहं प्रकृति की सन्तान है। प्रकृति की तीसरी अवस्था है अहं। पहले अव्यक्त प्रकृति, अव्यक्त से चित्त, चित्त से अहं और अहं से मन। सांख्य में यह पूरी प्रक्रिया २४ तत्त्वों की है, वेदान्त में भी यही है, उपनिषदें भी इसे मानती हैं। इसी क्रम से इसका प्रवाह चलता है।

जब प्रत्येक कार्य अपने कारण की तलाश में प्रवृत्त होता है तो उस अहं की गति अपने कारण की दिशा में होती है। जो चेतना अहं रूप में जागृत हुई उसका कारण कौन है ? वही अनन्त चेतना; किन्तु उसकी सीमा का कारण उसका चित्त बन गया। उपनिषद् में एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है जिसमें बताया गया है—

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।

—कठोपनिषद् १/३-१

जीव को छाया और ईश्वर को आतप कहा है। छाया का अस्तित्व प्रकाश से है। छाया की आकृति माध्यम से है। प्रकाश में तब तक छाया नहीं हो सकती जब तक बीच में कोई माध्यम न हो। माध्यम केवल छाया को आकृति दे सकता है लेकिन छाया के अस्तित्व को प्रकट करने की सामर्थ्य माध्यम में नहीं है। यदि प्रकाश न हो तो आकृति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती इसलिए प्रकाश ने ही आकृति और सत्ता को अभिव्यक्ति दी है। माध्यम ने ही आकृति दी है। माध्यम और प्रकाश दोनों ने मिलकर छाया को जन्म दिया है। गुण माध्यम है जो आकृति देता है, ज्ञान प्रकाश है जिसने सत्ता दी है, अस्तित्व दिया है। तो ज्ञान और गुण दोनों ने मिलकर छाया रूपी जीव को जन्म दिया है।

छाया जीव है। गुण चित्तात्मक है, ज्ञान चेतन स्वरूप है। इन दोनों के संयाग से छाया रूपी जीव का आविर्भाव हुआ है। जीव ने अपने आप को सीमा में बाँध लिया है। छाया की आकृति है, प्रकाश की कोई आकृति नहीं है। छाया सीमित है, प्रकाश असीम है। छाया सावयव है, प्रकाश निरवयव; इसलिए छाया को मिटाया जा सकता है। माध्यम को हटा दो तो छाया मिट जाएगी लेकिन प्रकाश को हटाया नहीं जा सकता, मिटाया नहीं जा सकता, वह नित्य तत्त्व है। इसलिए जीव के स्वरूप को समझने के लिए उपनिषदों में इतने सुन्दर उदाहरण दिए हैं जिनकी कोई सानी नहीं है। मैं आप लोगों को समझा रहा था—

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।

यह उदाहरण जीव और ईश्वर की यथार्थता का बोध कराता है। पुरुष माने चेतन। वह चेतन ब्रह्मरूप में अर्थात् कारण अवस्था में है। समष्टि चित्त के माध्यम से प्रकट होने वाले चेतन की संज्ञा ईश्वर है। यहाँ समष्टि चित्त का अभिप्राय ब्रह्मगत चेतन है। ऐसे ईश्वर एक नहीं अनन्त हैं। इनकी कोई गणना नहीं हो सकती क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त

समष्टि चित्त हैं। समष्टि चित्त से प्रकट होने वाले चेतन ईश्वर भी अनेक हैं, इसलिए तो उपनिषद कहती है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।

—श्वेता० ६/७

जैसे एक ही ब्रह्म से अनन्त ईश्वर प्रकट होते हैं वैसे ही एक ईश्वर से अनन्त जीव हैं। जीव व्यष्टि है, ईश्वर समष्टि है और ब्रह्म कारण है। वह अनन्त चेतन ब्रह्म जो पुरुष कहा गया है वही ईश्वर रूप में और वही जीव रूप में भी पुरुष कहा गया है। उपनिषद् में पुरुष शब्द का अर्थ है केवल चेतन। चेतन तीन रूपों में वर्णित है—जीव, ईश्वर और ब्रह्म। ब्रह्म रूप में वह अव्यक्त है, ईश्वर रूप में वह समष्टि चित्त के माध्यम से व्यक्त है और जीव रूप में व्यष्टि चित्त के माध्यम से अभिव्यक्त है। पुरुषसूक्त में तीनों अर्थों में पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

—पुरुषसूक्त १४

यहाँ पुरुष शब्द जीव के लिए है। जहाँ 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आया है वहाँ पर वह ईश्वर के लिए है और जहाँ पर—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

—पुरुषसूक्त ३

यह ब्रह्म के लिए है। एक ही पुरुषसूक्त में भिन्न-भिन्न अर्थों में कई बार पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है। जहाँ भी पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है हमें देखना होगा कि किस अर्थ में हुआ है-ब्रह्म के अर्थ में, ईश्वर के अर्थ में या जीव के अर्थ में। इसी प्रकार रामायण और गीता में भी इसका वर्णन मिलता है। सारांश रूप में मैं आपको समझा रहा था कि ब्रह्म, ईश्वर और जीव एक ही परम चैतन्य के स्वरूप हैं। ईश्वर को आतप

और जीव को छाया रूप में वर्णन किया गया है। जीव की अभिव्यक्ति अस्मिता रूप में है और अस्मिता में ही भोग की भावना का जागरण होता है।

भोग माने अनुभूति। भोग आस्वादन वृत्ति का नाम है। आस्वादन वृत्ति ज्ञान का धर्म है। आस्वादन दो प्रकार का हो सकता है—सुखानुषयी और दुःखानुषयी। दुःख में भी स्वाद है तथा रस है और सुख में भी स्वाद है तथा रस है। अन्तर केवल इतना है कि—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

—योगसूत्र २/१४

एक प्रसन्नताप्रद है दूसरा असन्तोषप्रद। एक मीठा है दूसरा कड़ुवा है। रामायण में इसी बात को तुलसीदास जी ने कहा है—

फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।

—रा० ७/१३-५

मीठे फल के प्रति हमारी रुचि बढ़ती जाती है इसलिए उसका संग्रह करते जाते हैं और कड़ुवा फल मिला तो उसे दूर करने की कोशिश करते हैं। कड़ुवाहट से हम दूर रहना चाहते हैं और मिठास को नज़दीक रखना चाहते हैं। जिससे हम दूर रहना चाहते हैं, उससे द्वेष होता है और जिससे हमें अनुकूल स्वाद मिलता है उससे हमारा राग होता है। अस्मिता से दो प्रकार का भाव पैदा हुआ—राग और द्वेष।

अस्मिता में जीवत्व को प्राप्त हुए चेतन का भोग वा आस्वादन करना स्वभाव है, इसको टाला नहीं जा सकता। आप खीर खाएंगे तो आपको मीठी लगेगी, यदि नीम खाएंगे तो कड़ुवा लगेगा। यदि गुड़ खाने पर मीठा नहीं लगता तो इसका अभिप्राय आपकी जिह्वा में कोई रोग हुआ है, डाक्टर को दिखाना चाहिए। विनयपत्रिका में तुलसीदास जी ने कहा है—

काम-भुजंग डसत जब जाही।
बिषय-नींब कटु लगत न ताही॥

—विनय पत्रिका १२७

जिसको साँप काट लेता है, उसको नीम की पत्ती कड़वी नहीं लगती। हमारे यहाँ गाँव में जिसको साँप काट ले उसके परीक्षण का उपाय यही है कि वह नीम की पत्ती घास की तरह चबाता जाता है। मेरा कहने का अभिप्राय कड़ुवाहट या मिठास अनुभव करना जीव का सहज धर्म है। इन्द्रियों के माध्यम से वह इनका अनुभव करता रहता है। यदि इन दोनों के कारण को समझकर इससे उपरति चाहते हैं तो आपको यह सोचना होगा कि मिठास और कड़ुवाहट, सुख व दुःख की सत्ता मेरे से है, इनसे मेरी सत्ता नहीं।

मैं आपको बता रहा था कि कड़ुवाहट और मिठास दोनों ही स्वादयुक्त हैं। इसी तरह सुख और दुःख भी दोनों स्वादयुक्त हैं। कभी-कभी दुःख के स्वाद में भी आनन्द आता है। जिन माताओं के सन्तान नहीं होती उनसे पूछिए और सन्तान की उत्पत्ति में कितना दुःख होता है जन्म देने वाली माँ से पूछिए। दुःख में भी आनन्द है। प्रसव की पीड़ा के पश्चात् यदि माँ को पता चल जाए कि लड़का पैदा हुआ है तो सारा दर्द एक दम ही समाप्त हो जाता है।

जो देशभक्त अपने देश के लिए हँसते हुए फाँसी पर चढ़ा दिए गए क्या उनको फाँसी में रस नहीं आया? गुरु अर्जुनदेव को तवे पर रखकर गर्म-गर्म बालू से भून दिया गया, भाई मतिराम के सिर पर आरा चला दिया गया, हकीकतराय को भी धर्म के लिए जान की बाजी लगानी पड़ी और गुरु गोविन्दसिंह जी के पुत्रों को दीवार में जिन्दा चिनवा दिया गया, क्या उनको उस दुःख में रस नहीं आया? रस न आता तो कहते कि भाई मैं तो समपर्ण कर रहा हूँ, मैं मुसलमान बन जाऊँगा,

मैं यह विरोध नहीं करूँगा। कहने का अभिप्राय उस दुःख की अपेक्षा जिसकी रक्षा के लिए उन्होंने बलिदान दिया, वह अधिक मूल्यवान् था। इसलिए गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज लिखते हैं—'शीश दे दियो पर सी न उच्चरी।' हम उस दुःख के रस की चाह करते हैं जिसका परिणाम हमारे लिए सुखप्रद होता है। कभी-कभी हम सुख के रस की चाह नहीं करते, यदि हमें पता चल जाए कि इसका परिणाम घातक व हानिकारक है। खीर के स्वाद के होते हुए भी यदि हमें यह पता चल जाए कि इसमें जहर है तो हम मरने के भय से उसे नहीं खायेंगे किन्तु मरने से यदि हमारे सत्य और धर्म की रक्षा होती है तो उस मृत्यु का स्वागत करेंगे। सुख और दुःख की मीमांसा बड़ी ही विचित्र है।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

—गीता १३/२०

पुरुष सुख और दुःख का भोक्ता है, दोनों में वह रस लेता है। सुख भी दुःख का कारण बन जाता हैऔर दुःख भी सुख का कारण बन जाता है। गीता के अठारहवें अध्याय में प्रभु ने कहा है, जिसमें पहले दुःख की अनुभूति हो लेकिन बाद में उसका परिणाम अमृतमय हो, वह सात्त्विक सुख है; जिसमें पहले सुख की अनुभूति हो बाद में रोना पड़े, वह राजसिक सुख है। इतना अन्तर है दोनो में लेकिन स्वाद दोनों में है।

'सुखानुशयी रागः'—जिनमें सुख है उनमें हमारा अहं के नाते राग हो जाता है। जिनसे हमें राग हो गया उन साधनों को हम सदा अपने पास रखना चाहते हैं दुबारा सुखी होने के लिए। इसी से परिग्रह वृत्ति का जन्म होता है। यह संग्रह वृत्ति अपने सुख के प्रति राग भाव और अभाव से मिलने वाले दुःख के प्रति द्वेष भाव से होती है। राग और द्वेष दोनों ही अस्मिता से पैदा होते हैं।

चौथा क्लेश है अभिनिवेश जिसका अर्थ है मृत्यु का भय। मृत्यु

माने परिवर्तन। परिवर्तन चेतन में नहीं चित्त के कार्यों में है। चित्त का कार्य है बुद्धि, अहं, मन, इन्द्रियाँ, शरीर, पाँच तन-मात्राएँ और पाँच महाभूत। ये सब चित्त के परिणाम हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त करना भी चित्त का परिणाम है, इसका धर्म है।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।

—गीता २/१३

यह जो परिणाम चित्त और उसके कार्यों में होने वाला है स्थूलता के दृष्टिकोण को सामने रख के अब उस परिणाम से भयतीत होने की जरूरत उसको तो नहीं है जो अपरिणामी है अर्थात् चेतन को तो परिणाम का भय नहीं है लेकिन वह भयतीत तब होता है जब चित्त के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। दोनों के तादात्म्य से अस्मिता पैदा होती है और अस्मिता से ही आगे चलकर राग-द्वेषयुक्त अभिनिवेश क्लेश का आविर्भाव होता है। इस प्रकार राग, द्वेष और अभिनिवेश अस्मिता से पैदा होते हैं और अस्मिता की माँ विपर्यय वृत्ति है जिसे अविद्या भी कहते हैं।

मुह वैचितेः—मोह से ही विपर्यय वृत्ति का जन्म हुआ है। योगदर्शन कहता है कि जब तक तुम उस अविद्या का नाश नहीं करोगे तब तक उसकी सन्तानों का नाश नहीं हो सकता।

भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य का अनुसन्धान किया कि कारण के रहते कार्य का नाश नहीं हो सकता, इसी आधार पर उन्होंने चिकित्साशास्त्र की भी प्रतिष्ठा की। आयुर्वेद में यही प्रणाली काम करती रही है। हमारे यहाँ प्राचीनकाल में चिकित्सक यह देखते थे कि रोग क्यों हुआ? जब तक क्यों का पता नहीं चलता था तब तक रोग का निदान नहीं होता था। कारण के होते कार्य का नाश नहीं हो सकता। कारण के अभाव में कार्य का अभाव हो जाता है किन्तु कार्य के अभाव में कारण

का अभाव हो नहीं सकता। इसलिए रोग के कारण का पता लगाकर उसको दूर करने की चिकित्सा की जाती थी। जैसे शरीर की व्याधि के लिए रोग के कारण का निदान किया जाता है वैसे ही मानसिक व्याधि के लिए भी उसका कारण ढूँढ़ा जाता था। इसको स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि अविद्या ही क्लेशों का कारण है। तुलसीदास जी का भी यही कथन है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।

—रा० ७/१२१-२९

अविद्या, मोह और विपर्यय समानार्थक शब्द हैं। जब तक उस मोह व अविद्या का नाश नहीं होता तब तक आप दु:ख से मुक्त नहीं हो सकते। योगदर्शन आपको दु:ख से मुक्त होने का उपाय बताता है।

सुख-दु:ख के कारण की मीमांसा करते हुए उपनिषद् कहती है—'भूमावै सुखं नाल्पम्'—व्यापकता में ही सुख है, सीमा में नहीं। भूमा ही सुखद है अल्प सुखद स्वरूप नहीं इसलिए अनन्त ब्रह्म आनन्द ब्रह्म कहा जाता है। जितनी सीमा छोटी होगी उतने ही तुम दु:खी होंगे। यदि दूसरे की अपेक्षा अपनी सीमा बड़ी है तो सुख होगा। यदि पड़ोसी का मकान दो कमरे का है और हमारा पाँच कमरे का तो हमें सन्तुष्टी होगी, सुख होगा क्योंकि वहाँ पर अपनी सीमा थोड़ी बड़ी है। अब सोचिए, जहाँ सीमा है ही नहीं वहीं भूमा है। वहाँ कितना सुख होगा, इसकी कल्पना कौन कर सकता है!

सीमा रहित होने के दो साधन हैं—एक तो सीमा को तोड़ देना, दूसरा सीमा को भूल जाना। सीमा का नाश ज्ञान से होता है, किन्तु भोगकाल में हम सीमा को भूल जाते हैं। सीमा की विस्मृति तमोगुण का कार्य है किन्तु नाश बोध से होता है जो सतोगुण का कार्य है। सीमा का जन्म अहंकार से होता है और अहं जब आकार में आबद्ध हो जाता है तो

वही सीमित व अल्प हो जाता है, उसमें दुःख सहते हैं। अहंकार की जननी अविद्या है। प्रकृति स्वयं में अज्ञानस्वरूपा नहीं है लेकिन भोगप्रदा होने के कारण विपर्यय वृत्ति अर्थात् अज्ञान का कारण बन जाती है। यदि केवल चेतन ही हो तो वहाँ विपर्यय वृत्ति के लिए स्थान ही नहीं है। विपर्यय वृत्ति तो गुण के माध्यम से ही होगी। गुण ही कारण बन जाता है विपर्यय वृत्ति का इसलिए अविद्या का वही स्वरूप माना गया है और इसी को दुःख का हेतु मान लिया गया है।

सांख्य, वेदान्त और योग प्रकृति को दुःख का नहीं बल्कि सुख का हेतु भी मानते हैं; वह आनन्द का भी हेतु है। प्रकृति साधन स्वरूपा है, इसके माध्यम से अपना विकास और उत्थान करके जीवात्मा ब्रह्म तक पहुँच जाता है। जो बुद्धि विकृत होकर पतन में धकेलती है वही बुद्धि विशुद्ध होकर ब्रह्म का भी साक्षात्कार करती है। जो मनुष्य का शरीर उसे नरक में ले जाने वाला है वही उसे स्वर्ग में भी ले जाता है तथा मोक्ष का भी साधन बनता है। इसलिए तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

—रा० ७/१२१-१०

यह मनुष्य शरीर स्वर्ग की भी सीढ़ी है, नरक की भी और अपवर्ग की भी। इसी से तुम मुक्ति प्राप्त करते हो, नरक में भी कूद सकते हो और स्वर्ग में भी जा सकते हो। यह तीनों का साधन है। प्रकृति दुःख का कारण नहीं है क्योंकि वह साधन है। साधन दुःख का भी कारण हो सकता है और सुख का भी क्योंकि छुरी से आप फल भी काट सकते हैं और हाथ भी। आप भोजन करते हैं वह आपके स्वास्थ्य में भी कारण हो सकता है, रोग में भी—

आजीर्णे भोजनं विषम्।

वही भोजन आजीर्ण हो जाए तो विष का काम करेगा। यदि उसी को उचित रूप में ग्रहण करोगे तो वह स्वास्थ्य में हेतु होगा। मेरी राय है कि प्रकृति दुःख का कारण नहीं है। दुःख का कारण अविद्या वा विपर्यय वृत्ति है। उस विपर्यय वृत्तिरूपी अविद्या का नाश करने के लिए योगदर्शन प्रवृत्त हुआ है। योगदर्शन बताता है कि आप किस विधि से अविद्या से मुक्त हो सकते हैं, यही इसका प्रयोजन है।

हरि ॐ तत्सत्

५

मेरी प्रिय आत्माओ!

योगदर्शन क्लेवर की दृष्टि से बहुत छोटा-सा है। उसमें चार पाद हैं—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। हमें साधन क्यों करना है, किस लिए करना है और कैसे करना है, यह समाधिपाद में वर्णित है और इसका विस्तृत विवेचन महर्षि ने साधनपाद में किया है। विभूतिपाद में सिद्धियों का वर्णन है। साधन करके जब समाधि अवस्था प्राप्त कर ली तो किस प्रकार की सिद्धियाँ आपके पास आएँगी और इनका क्या परिणाम होगा, ये सारी बातें विभूतिपाद में बताई गई हैं। अन्त में कैवल्यपाद है। कैवल्यपाद का विषय दार्शनिक है। दार्शनिक विषय में अन्ध मान्यताओं का दृढ़ता के साथ खण्डन है। जो यह मानते हैं कि चित्त ही चेतन है, चेतन कोई अलग तत्त्व नहीं है, प्रकृति के परिणाम से ही चेतन का जन्म होता है, ऐसी मान्यताएं और उनका निराकरण तथा कैवल्य की प्राप्ति का स्वरूप कैवल्यपाद में बताया गया है। संक्षेप में यही योगदर्शन का विषय है।

मैं आपको साधनपाद की बात बता रहा हूँ क्योंकि पिछली बार जब कैम्प लगा था तो मैंने एक सूत्र की व्याख्या की थी जिसे क्रियायोग कहते हैं। इस पर एक पुस्तक ब्रह्मऋता जी ने निकाली जिसका नाम है सहज समाधि भली। जो लोग साधन में रुचि रखते हैं, उनको उसे पढ़ना

चाहिए, इससे काफी लाभ होगा। क्रियायोग समाधि भाव को प्राप्त करने की साधना है। योगदर्शन के साधन का मूल स्वरूप अभ्यास और वैराग्य है। उत्तम अधिकारियों के लिए ये दो ही अंग हैं। क्रियायोग मध्यम अधिकारियों के लिए है। इसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये तीन अंग हैं। जो क्रियायोग नहीं कर सकते उनके लिए अष्टांगयोग है। अष्टांगयोग राजयोग का साधन है। क्रियायोग लययोग का साधन है। राजयोग का अभिप्राय अभ्यास और वैराग्य से है। लययोग का अभिप्राय है ईश्वर प्रणिधान के द्वारा अहं का सत्य में लय करना। वह एकाएक नहीं सधता इसलिए उसके साथ तप और स्वाध्याय को जोड़ा गया है। निर्बीज समाधि प्राप्त करने के यही दो साधन हैं। राजयोग जिसका नहीं सधता उसके लिए अष्टांगयोग है। इसी प्रकार जो लययोग की साधना नहीं कर सकता, उसके लिए क्रियायोग है। जिस अविद्या का नाश करने के लिए क्रियायोग, राजयोग, लययोग तथा अष्टांगयोग आदि साधन हैं, वह अविद्या क्या है? इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। अविद्या की प्रथम सन्तान अस्मिता है। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पतंजलि कहते हैं—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

—योगसूत्र २/६

जब दृग् शक्ति का दर्शन शक्ति से तादात्म्य हो जाता है वहाँ अस्मिता पैदा होती है। अस्मिता से ही भोगात्मिका वृत्ति का जन्म होता है। भोगात्मिका वृत्ति ही राग की जननी है, क्योंकि—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

—गीता ३/३४

गीता में भगवान् ने बताया कि इन्द्रियाँ और उनके अर्थों में राग-द्वेष दोनों व्यवस्थित हैं। जब भी आपके मन में वासना का उदय होगा

तभी इन्द्रियों के अर्थों में उसका संयोग होगा। जब उससे अनुकूल रस मिलेगा तो उसमें राग होगा और जब भी आपको प्रतिकूल रस मिलेगा तो द्वेष होगा। राग और द्वेष, दोनों इन्द्रियों के अर्थों के साथ जुड़े हुए हैं। जब भी आप इन्द्रियों के अर्थों से सुख का आस्वादन करेंगे तो उसके परिणामस्वरूप राग और द्वेष से बच नहीं सकते। इसलिए साधक के लिए भगवान् ने आदेश दिया है—

तयोर्न वशमागच्छतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।

—गीता ३/३४

ये दोनों राग और द्वेष साधन में व्यवधान हैं। साधक के लिए ये डाकू, लुटेरे तथा परिपन्थी हैं अतः इनके वश में नहीं होना चाहिए। जो लोग परमार्थ की साधना करना चाहते हैं, उनको राग, द्वेष से सावधान रहना चाहिए। राग और द्वेष आगे अभिनिवेश को जन्म देता है। अभिनिवेश स्वरसवाही है, वह अपने ही रस में बहता है। स्वरसवाही माने स्वभाव से बहने वाला। जैसे मृत्यु का भय, वियोग का भय, नाश का भय तथा अज्ञान का भय। इस भय को कोई बुलाता नहीं, यह अपने आप आता है, इसलिए इसे स्वरसवाही कहा गया है।

दुनिया में किसी ने भय को निमन्त्रण नहीं दिया। वर्तमान में आप देख रहे हैं कि भय से मुक्त होने के लिए कुछ साधन बताए जा रहे हैं जिनके द्वारा और अधिक भय उत्पन्न हो रहा है। रूस अमेरीका के भय से मुक्त होना चाहता है, अमेरिका रूस के भय से मुक्त होना चाहता है। दोनों एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर अणु-अस्त्रों का निर्माण करते जा रहे हैं, जो उस भय को और बढ़ा रहे हैं। सम्भव है पहले युद्ध का भय राष्ट्रीय राजनीतिक स्तर पर रहा होगा, फिर सामाजिक स्तर पर भय आया और अब वह व्यक्तिगत स्तर पर पहुँच गया है। अमेरिका में हर एक चर्च में यह प्रचार किया जा रहा है कि दुनिया ८४ तक रहेगी। इसके

लिए बाईबिल का प्रमाण देते हैं और कहते हैं कि क्राइस्ट की शरण में आकर अपने लिए स्वर्ग में स्थान निश्चित करवा लो अन्यथा नरक में जाना पड़ेगा। हम जहाँ भी चर्च में बोलने जाते हैं उनका पहला प्रश्न यही होता है कि क्या आपके हिन्दु तिथिक्रम के अनुसार भी दुनिया ८४ में खत्म हो रही है तथा आपके भी किसी धार्मिक ग्रन्थ में लिखा हुआ है कि दुनिया ८४ में नष्ट हो जाएगी? मैं उनको समझाता हूँ कि जो धर्म भय और प्रलोभन के सहारे खड़ा हो, उस धर्म को लेकर तुम क्या करोगे! उससे मानवता का हित नहीं होने का। इसके सहारे जो धर्म फैल रहा है वह धर्म नहीं वह तो एक प्रकार से राजनीतिक षडयन्त्र है। धर्म का प्रयोजन है भय से मुक्ति दिलाना। भय को कोई चाहता नहीं, यह तो अपने आप फैलता है। मरने का भय कीड़े में भी देखा जाता है।

महाभारत में एक कीड़े की कथा आती है। कीड़ा दौड़ा आ रहा था। वेदव्यास जी ने उसे देखा, उन्हें कौतुहल हुआ। उन्होंने उससे दौड़ने का कारण पूछा। कीड़े ने कहा कि यहाँ से एक योजन दूर एक बैलगाड़ी आ रही है। मुझ को भय है कि कहीं मैं उसके नीचे न आ जाऊँ, इसलिए मैं दौड़ रहा हूँ कि मैं उसके पहुँचने से पहले सड़क को पार कर जाऊँ। वेदव्यास जी ने पूछा कि इस कीड़े के शरीर से तुम्हें इतनी आसक्ति क्यों है? उसने उत्तर दिया कि इस शरीर में इतना अनुराग नहीं है लेकिन मरने के बाद जो फिर माँ के गर्भ में जाना पड़ेगा उसका भय लग रहा है, इसलिए मैं सोचता हूँ कि जब तक उस भय से बचा जा सके, ठीक है। गीता में भगवान् ने कहा है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

—गीता १३/८

यदि मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखों का बार-बार चिन्तन करे तो उसकी अध्यात्म के रास्ते पर चलने की अभिरुचि बढ़

जाती है। यह प्रक्रिया सहज और स्वाभाविक है। व्यक्ति के जीवन में भय कहीं से पैदा नहीं किया जाता, वह तो स्वरसवाही है। जन्म के साथ ही भय लगा हुआ है। अन्तस्थ चेतना में मृत्यु के भय का संस्कार है इसलिए अन्तरतम में भय बना रहता है कि कहीं मैं मर न जाऊँ क्योंकि पहले अनेक बार मृत्यु की अनुभूति हो चुकी है।

मरते समय दुःख होता है कि नहीं, इस पर आजकल अमेरीका में अनुसंधान हो रहा है। डाक्टरों ने अनेक व्यक्तियों का इण्टरव्यू लिया है जोकि पहले मृत घोषित किए गए और बाद में उनमें फिर चेतना आ गई। इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के अनुभव उसने 'लाइफ आफ्टर डैथ', 'लाईफ आफ्टर लाईफ' और 'बियोन्ड लाईफ' नामक पुस्तकों में लिखे। एक अमेरिकन ने 'वोमेन सेंट आफ इंडिया' नाम की एक पुस्तक लिखी है जिसमें कश्मीर की एक माँ ललितश्री की जीवनी है जिसने की अपने चार जन्मों की अनुभूतियाँ बताई हैं।

मैं आपको बता रहा था कि हमारे पूर्व जन्म की स्मृतियाँ संस्कार रूप में चित्त के साथ आती हैं, उनको हम स्वरसवाही कहते हैं। वे अपने आप आती हैं, उनको हम याद नहीं करते। कुछ स्मृतियाँ वे होती हैं जिनको हम ले आते हैं और याद रह जाती हैं, कुछ ऐसी हैं जिन्हें हम चाहते नहीं फिर भी हमारे साथ चली आती हैं। मनोविज्ञान में प्रश्न होता है कि कौन सी स्मृतियाँ साथ आती हैं? प्रबल स्मृतियाँ चाहे प्रेम की हों या भय की, ये दोनों स्मृतियाँ अपने आप आती हैं, इनके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। जहाँ आपको न कहीं प्रेम है और न भय, वहाँ कोई स्मृति नहीं बनने की। आप रास्ते में चलते हैं, हज़ारों आदमी आपको मिलते हैं, यदि साँयकाल को कोई पूछे कि आज दिन में कौन-कौन मिला, आपको शायद ही कोई व्यक्ति याद हो। यदि कोई दोस्त मिल जाए फिर तो महीनों नहीं वर्षों तक याद रहता है। यदि कोई अपरिचित

व्यक्ति मिला और अपशब्द कह दिया तो वह भी बात आपको याद रहेगी। प्रेम और भय की भावनाएँ अपने आप हमारे साथ हो जाती हैं। प्रेम की भावना स्वरसवाही इसलिए क़ही जाती है कि उसको हम चाहते नहीं फिर भी वह अपने आप आती है। पतञ्जलि ने कहा है कि—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूपोऽभिनिवेशः।

—यो०सू० २/९

जो पण्डितजन व शास्त्रज्ञ हैं, उन पर भी जो आरूढ़ है, वह अभिनिवेश क्लेश है।

विद्वानों को भी भय होता है। उपनिषदों में कहा गया है कि अभय पद प्राप्त करना हो तो तुम परम पद को जानने की जिज्ञासा करो। श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूछा गया कि क्या बिना परम तत्त्व की खोज किए हम दुःख से मुक्त नहीं हो सकते? ऋषि कहता है कि हो सकते हो—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/२०

जब इस आकाश को चमड़े के समान लपेटकर आप अपनी बगल में रखने की क्षमता रखोगे तो उस अवस्था में आप बिना परमतत्त्व को जाने भी भय से मुक्त हो जाओगे। आकाश को चमड़े के समान कैसे लपेटा जा सकता है? यह तो असम्भव है। जैसे यह असम्भव है वैसे ही परमात्मा को बिना जाने दुःख का नाश भी असम्भव है।

मैं आपको बता रहा था कि यह जो स्वरसवाही 'विदुषोऽपि आरूपो' भय है, उसका नाम अभिनिवेश है। यह सभी के साथ लगा हुआ है। आगे दसवें सूत्र में पतञ्जलि बता रहे हैं—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

—योगसूत्र २/१०

वे क्रियायोग द्वारा सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हुए क्लेश चित्त को

अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा नष्ट करने के योग्य हैं। यहाँ पाँचों क्लेशों के लिए यह बात कही है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये क्लेश के पाँच रूप हैं। यहाँ पर क्रियायोग में क्लेशों को नष्ट करने के लिए भगवान् की शरणागति को साधन बताया है। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

—रा० ७/८९-५

ये पाचों क्लेश बिना भगवत् भक्ति के नष्ट नहीं हो सकते। पतञ्जलि कहते हैं—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

—योगसूत्र २/१०

'हेय' माने जो त्यागने योग्य है, 'प्रतिप्रसव' माने लय अर्थात् कार्य का कारण में लय हो जाना। यहाँ पर बताया गया है कि ये क्लेश सारे त्यागने योग्य हैं। चित्त जब अपने कारण में लीन होने लगता है तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्था में पहुँच जाता है।

क्लेश की तीन अवस्थायें हैं—तनु, विच्छिन्न और उदार। तनु माने निर्बल, विच्छिन्न माने थोड़ा सा ऊपर उठे हुए और उदार माने प्रकट। ये तानों अवस्थायें हैं क्लेशों की। इन क्लेशों को क्रियायोग की साधना के द्वारा सूक्ष्म करके उनके कारण में लय कर दिया जाता है। जब तक उनके कारण का नाश नहीं होता तब तक उनका नाश नहीं होता। चित्त में अस्मिता भाव ही उनका कारण है। अस्मिता का कारण है अविद्या। जब तक अविद्या का नाश नहीं होता तब तक अस्मिता का नाश नहीं हो सकता। इनके नाश के लिए इनको अपने कारण में लीन करना चाहिए, फिर इनके कारण का नाश करना चाहिए। कारण को

नाश करने का साधन पतञ्जलि ने बताया है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

—योगसूत्र २/११

चित्त वृत्ति को ध्यान के द्वारा नष्ट करो। हेय माने त्यागने योग्य, प्रेय माने ग्रहण करने योग्य तथा ज्ञेय माने जानने योग्य। दुनिया में तीन प्रकार के पदार्थ हैं—हेय, प्रेय और ज्ञेय। कठोपनिषद् में प्रेय की बात कही गई है किन्तु योगदर्शन ने हेय और ज्ञेय की बात कही है। संसार का सुख हेय है क्योंकि यह दुःख रूप है। लोक की बजाए परलोक का सुख प्रेय है। वहाँ न दुःख, न जरा, न व्याधि अर्थात् न वहाँ वृद्धावस्था है, न रोग है और न ही मरने का भय है। इन तीनों से रहित होने के नाते इस लोक को प्रेय कहा गया है। यह स्वर्गादि लोकों की बात है। जैसे हमारी यह पृथ्वी है और इस पृथ्वी के साथ कई लोक लगे हुए हैं। सूर्य के साथ केवल पृथ्वी ही नहीं और भी कई ग्रह, उपग्रह लगे हुए हैं। कितने सूर्य हैं इस ब्रह्माण्ड में, इसकी कोई गणना ही नहीं कर सकता। आस्ट्रोनोमी के सिद्धान्त से हमारा सूर्य जिस नेबुला का सदस्य है, उसमें ४२ बिलियन सितारे हैं। अब तक ७२ मिलियन नेबुला का पता लगा है। जैसे हमारा सूर्य सृष्टि रखता है ऐसे ही हरेक सूर्य का परिवार है। जैसे हमारे सूर्य की पृथ्वी तमस प्रधान है वैसे ही अनेक सूर्यों की पृथ्वियाँ रजस तथा सत्त्व प्रधान भी होंगी। सत्त्व प्रधान हमारे तमस प्रधान भू-मण्डल की अपेक्षा विकसित है। हमारी आपकी दृष्टि से ये लोक दूर हैं लेकिन शून्य की दृष्टि से कोई दूरी नहीं है। दूरी तो स्थूल में है, शून्य में कहाँ दूरी है? दूरी जिसकी हम मापते हैं वह स्थूल है और वह स्थूल शून्य में है यानी देश और काल शून्य में मापे जाते हैं; तत्त्वतः न कहीं देश है न कहीं काल। काल का माप हम सूर्य के उदय और अस्त से करते हैं। यथार्थ यह है कि न कहीं सूर्य उदय होता है न कहीं अस्त होता है। काल काल्पनिक

है, देश की स्थिति काल से है। जब काल काल्पनिक है तो देश सत्य कैसे हो सकता है? जिस लोक में हम हैं वहाँ से उस लोक में जाने के लिए समय और दूरी का व्यवधान नहीं है। उपनिषदें बताती हैं कि जैसे जौंक आधा शरीर घास पर रखकर पिछला घास छोड़ देता है, इसी प्रकार सूक्ष्म चित्त इस शरीर को छोड़ करके दूसरा शरीर ले लेता है, इसमें कोई व्यवधान नहीं है। चित्त तो आकाश से भी सूक्ष्म है,यह तो ईथर का भी कारण है। जैसे यह लोक है वैसे ही अन्य लोक हैं। यह पार्थिव लोक है, वह तेजस है इसलिए दिव्य है। यह ब्रह्माण्ड की कहानी सुनी आपने? इस ब्रह्माण्ड से परे अमृतमय दिवी है। इसको 'त्रिपादस्य अमृतं दिवी' भी कहा है। विद्यापाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद जो परम पद के नाम से कहा जाता है, वही जीवन का प्राप्तव्य है। देवलोक के भोगों को प्रेय कहते हैं। उस प्रेय रूपी परलोक को प्राप्त करने के लिए हमारे यहाँ शास्त्रों में विधि बताई गई है। कुछ लोग तो उन लोकों में जाना ही मोक्ष मानते हैं पर उपनिषदें कहती हैं कि वहाँ जाना मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो है किसी भी लोक में न जाना। आने–जाने की गति का अवरोध करना ही मोक्ष है। ब्रह्म को प्राप्त करना ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है, इसे कहते हैं श्रेय। श्रेय ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना, प्रेय स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करना तथा मृत्युलोक के भोग को हेय कहते हैं। हेय और प्रेय ब्रह्मपद को प्राप्त करने में बाधक हैं, श्रेय मार्ग ही उसका साधक है।

कठोनिषद् में बताया गया है कि नचिकेता को ऋषि पहले प्रलोभन देते हैं संसार तथा स्वर्ग के सुख को प्राप्त करने का। जब वह उसको अस्वीकार करता है और कहता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो आत्मज्ञान चाहिए तब वह उसके त्याग और जिज्ञासा की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि तुम्हारे जैसे शिष्य तो दुनिया में विरले ही मिलते हैं जो प्रेय का त्याग करके श्रेय को चाहते हैं। यही बात गीता में भी पढ़ते हैं।

अर्जुन कहता है, प्रभु! मुझे पृथ्वी का अकंटक साम्राज्य तथा स्वर्ग की भी चाह नहीं है। मेरे लिए जो श्रेयस्कर हो वही बताइए।

संसार के सुख के साधन भी दुःख में कारण बनते हैं। इनसे सर्वदा सुख की आशा नहीं की जा सकती इसलिए इन्हें हेय कहा है। इन हेय वृत्तियों का ध्यान के द्वारा त्याग कर देना ही श्रेष्ठ है। हेय का शाब्दिक अर्थ है त्याज्य। ध्यान ही एक उपाय है इन वृत्तियों को त्यागने का। ध्यान किसका और कैसे किया जाए, यह आगे बताएंगे लेकिन ध्यान के लिए जो सरल उपाय है, उनमें धारणा का प्रथम स्थान है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

—योगसूत्र ३/१

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥

—योगसूत्र ३/२

अपने चित्त को देश विशेष में बाँध देना धारण है और बार-बार उसीका चिन्तन करना ध्यान है। उसके साथ तदात्म्य हो जाना समाधि है।

एक बात यहाँ याद रखनी चाहिए। यदि हमारे पाँव में काँटा गढ़ जाए तो हम उसे फूल से नहीं बल्कि उससे भी बड़े और मजबूत काँटे या काँटे जैसी किसी वस्तु से निकालेंगे। इसी प्रकार से यह जो संसार हमारे दिमाग में घुसा हुआ है, इसको यदि दिमाग से निकालना है तो इससे कोई बड़ी वस्तु हम अपने दिमाग में बिठाने की कोशिश करें। जैसे एक काँटे के निकल जाने पर हम दूसरा काँटा छोड़ देते हैं, इसी प्रकार यह संसार का भाव हमारे दिल-दिमाग से जब निकल जाएगा तो दूसरा अपने आप समाप्त हो जाएगा। व्यासदेव ने अपने भाष्य में लिखा है कि जैसे अग्नि समस्त ईंधनों को भस्म करके स्वतः शान्त हो जाती है, इसी प्रकार चित्तगत सारे संस्कार भस्म हो जाने पर ध्यान-जन्य संस्कार भी

शान्त हो जाता है। उन्होंने एक उदाहरण दिया। जैसे एक तालाब में बहुत सी मछलियाँ हैं और उसमें एक बड़ी मछली आ जाए। छोटी मछलियाँ बड़ी मछली का आहार है। जब बड़ी मछली सारी छोटी मछलियों को खा लेगी तब बड़ी मछली अपने आप मर जाएगी.क्योंकि उसको आहार नहीं मिलेगा। इसी प्रकार कहा गया है कि संस्कार ईंधन के समान हैं, जैसे ईंधन को भस्म करके अग्नि शान्त हो जाती है वैसे ही समस्त संस्कारों को नष्ट कर समाधिगत संस्कार भी शान्त हो जाता है। इन वृत्तियों को ध्यान के द्वारा शान्त करना चाहिए, इसलिए साधक को प्रारम्भ में अपने इष्ट का ध्यान करना चाहिए। यहाँ पर योगदर्शन इष्ट देवता की स्थिति को स्वीकार करता है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।

— योगसूत्र २/४४

स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है, इसलिए अपने इष्ट का चिन्तन करते हुए जो त्याज्य पदार्थ हैं, उनका त्याग कर देना चाहिए। साधन की बड़ी महिमा है। हमारे यहाँ साधन के क्रम में तीन बातें बताई जाती हैं—एक इष्ट, एक निष्ठ और एक मन्त्र। बिना इष्ट के कभी भी व्यक्ति अपने जीवन में विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। इष्ट ही उसका आदर्श होता है इसलिए इष्ट की आवश्यकता होती है। फिर उसी इष्ट में निष्ठा होती है और उसी इष्ट का मन्त्र होता है। पहले शब्द का चिन्तन होता है। जब अर्थ मात्र निर्भास रह जाए तो उसको समाधि कहते हैं। अर्थ के चिन्तन में अपने आप को लगाने के लिए जो अर्थ रूप इष्ट है, उसका अवबोधक वाचक जो शब्द है उसको पकड़े, उसका सुमिरन करे, फिर वाचक का जो वाच्य है, उसके भाव में अपने आप को लगा दे तो शब्द छूट जाता है, अर्थ में अनुरक्ति हो जाती है। सविचार के बाद निर्विचार समाधि और पश्चात् क्रमशः आनन्द और

अस्मिता समाधि की प्राप्ति होती है। साधन में आगे बढ़ने के लिए यही क्रम है।

क्लेशात्मक वृत्तियों को ध्यान के द्वारा त्यागना चाहिए। इष्ट का ध्यान करते-करते संसार का ध्यान अपने आप छूट जाता है। यहाँ एक बात और बताई है कि जिस क्लेश को ध्यान के द्वारा त्यागने की बात आप कर रहे हैं, उस क्लेश का मूल क्या है? जो कर्म हम करते हैं उसके तीन भेद बताए हैं। एक जो हम कर्म कर रहे हैं वह संस्कार रूप में हमारे वर्तमान रूप में है। दूसरा जो हम पहले कर चुके हैं वह संस्कार रूप में हमारे संचित में है और उसी का कुछ हिस्सा संस्कार रूप से हमारा प्रारब्ध बन गया है। इसे कहते हैं प्रारब्ध, संचित और क्रियमान। प्रारब्ध—जिन कर्मों को भोगने के लिए शरीर प्राप्त कर चुके हैं, संचित—जो हमारा जमा है। चित्त में अनेक जन्मों के संस्कार जमा हैं, न मालूम कब उदय हो जाएँ। एक छोटे बच्चे में काम के संस्कार तो हैं लेकिन वे अभी प्रसुप्त हैं, वह कहीं भी किसी जगह पड़ा सोया रहे, उसमें कोई विकृति नहीं आती। वही बच्चा जब थोड़ा बड़ा हो जाए तो वह अपनी माँ के साथ सोना भी पसन्द नहीं करेगा। क्या बच्चे में काम का विकार नहीं है? विकार तो है पर प्रसुप्त अवस्था में है। प्रसुप्त होने के नाते उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही स्थिति होती है हमारे कर्माशयों की। जब तक वे सोये हुए हैं तो ठीक है जब वे जाग जाएंगे तो मुसीबत खड़ी कर देंगे। इसलिए बताया गया कि प्रारब्ध प्रकट हुआ संस्कार हैं, जो दबा हुआ है वह संचित है और जो हम कर रहे हैं, वह हमारा क्रियमाण है। जब तत्त्व बोध होता है तो तीनों नष्ट हो जाते हैं। जैसे अग्नि ईंधन के ढेर को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान समस्त कर्मों को दग्ध कर देता है।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः।

—यो०सू० २/१२

क्लेश का मूल कर्माशय है जिसमें दृष्ट और अदृष्ट कर्मों का परिणाम होता है। हमारे कर्म दो रूपों में फल देते हैं—दृष्ट और अदृष्ट। कर्माशय चित्त को कहते हैं। इससे ही दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में विविध प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। ये अनुभूतियाँ चित्त से ही प्रकट होती हैं जिससे हमें सुख और दुःख मिलता है।

दृष्ट जन्म वह है जो वर्तमान में है, अदृष्ट जन्म वह है जो भविष्य में होने वाला है। बहुत से कर्म तो हम स्वप्नावस्था में ही भोग लेते हैं। स्वप्न के तीन कारण हैं—उनमें प्रथम जो हमारे चित्त में दुःख और सुख के भोग के संस्कार हैं। यदि निर्बल संस्कार हैं अर्थात् जागृत अवस्था में वह भोग देने में सक्षम नहीं है तो वे स्वप्नावस्था में हमें अपना भोग दे जाते हैं। स्वप्न में सुख और दुःख हमारे कमज़ोर संस्कारों के परिणामस्वरूप मिलता है। स्वप्न विज्ञान में बताया गया है कि जो सोते ही आपको स्वप्न आता है वह दिन में देखी गई घटनाओं का परिणाम होता है, जो मध्य में स्वप्न आता है वह दबे हुए संस्कारों का परिणाम होता है और जो पिछली रात में स्वप्न आता है वह होने वाली घटनाओं का आभास होता है। निर्बल कर्मों के संस्कार स्वप्न में अपना फल देते हैं, प्रबल कर्मों के संस्कार अपने आने की सूचना देते हैं, वर्तमान की प्रबल घटनाएँ या दिन में देखे हुए विशेष दृष्य भी स्वप्नावस्था में अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं जोकि स्वप्न में विकृत रूप में दिखाई देते हैं।

कर्म तथा कर्माशय कब से हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारे यहाँ सृष्टि के प्रवाह को बड़ी व्यापकता से बताया गया है। दिन और रात मिलकर एक दिन और ऐसे १५ शुक्ल पक्ष और १५ कृष्ण पक्ष मिलकर एक महीना होता है। १२ महीनों का एक वर्ष होता है। ऐसे चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष का कलियुग होता है, इससे दुगुनी आयु द्वापर की है, त्रिगुनी त्रेता की और चौगुनी सतयुग की। इन चारों को

मिलाकर एक महायुग बनता है। इकहत्तर महायुग मिलकर एक मनवन्तर बनता है। चौदह मनवन्तर जब बीतते हैं तो एक कल्प होता है। वह कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी बड़ी ब्रह्मा की रात्रि होती है। ३६० दिन का ब्रह्मा का एक वर्ष होता है और ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है। आगे चलकर पुराणों में इसकी और लम्बी विवेचना है। इस विवेचना के अनुसार यदि आप देखें तो एक कल्प में ही चौदह मनवन्तर हैं। ऐसे कई कल्प बीतकर फिर कलपान्त होता है। जब ब्रह्मा मरता है तो उसको महाप्रलय कहते हैं। प्रलय के तीन भेद बताए गए हैं—आंशिक प्रलय, प्रलय और महाप्रलय। आंशिक प्रलय जब मनवन्तर का परिवर्तन होता है तो होता है। जब कल्प का परिवर्तन होता है तो प्रलय होता है और जब कल्पान्त होता है तो उसे महाप्रलय कहते हैं यानी हमारे ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है। उस विराट में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। तुलसीदास जी ने कहा—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।

—रा० १/२०१

महानारायणोपनिषद् में इसकी विवेचना करते हुए सृष्टि प्रलय की व्याख्या की गई है। इन अनन्त ब्रह्माण्डों का आविर्भाव और तिरोभाव होता ही रहता है, इसलिए सृष्टि कब शुरु हुई है और कब तक रहेगी, इसकी कोई सीमा नहीं है जब सृष्टि की सीमा नहीं है तो सृष्टि में उत्पन्न हुए जीव के कर्माशय और कर्म आदि के विषय में क्या कहा जा सकता है। जीवत्व के साथ ही कर्म का प्रारम्भ होता है। कर्म माने जो किया जाए वह नहीं बल्कि कर्त्ता जिसे चाहता है वह कर्म है। चाह, इच्छा और वासना का नाम कर्म है। कर्म जीवत्व के साथ लगा हुआ है, वही कर्माशय उसके दृष्ट और अदृष्ट को अनुभव कराने वाला है। उसी

कर्माशय में क्लेश का आविर्भाव होता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश उसी से प्रवाह चलता है। इस अनादि प्रवाह का अन्त किया जा सकता है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो।
तबतें देह गेह निज जान्यो॥

—विनय पत्रिका १३६/१

इसी कल्प में हमारा आविर्भाव हुआ या इससे पहले वाले में भी रहे होंगे, क्या पता। यह है तो अनादि पर अनन्त नहीं, अनन्त तो ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म के एक अंश में अर्थात् अविद्यापाद में है। अविद्यापाद अनन्त नहीं है इसलिए सृष्टि को अनादि सान्त कहा जाता है। यह सारा सृष्टि प्रवाह अनादि सान्त इसलिए कहा जाता है कि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

—योगसूत्र २/२२

जो कृतार्थ हो जाते हैं, जिनको तत्त्वबोध हो जाता है, उनके लिए नष्ट हो जाता है। तदन्यसाधारणत्वात्—जो साधारण पुरुष हैं, उनके लिए नष्ट नहीं होता। योगदर्शन कहता है कि कर्माशय अनादि है, यह सान्त है। अज्ञान अनादि है। अज्ञान कब से पैदा हुआ है कोई नहीं जानता। प्रकाश कब पैदा हुआ है कौन जानता है लेकिन प्रकाश करो अभी अंधेरा दूर हो जाएगा। शास्त्र कहता है कि जो वस्तु असम्भव है उसकी हमें कल्पना नहीं होती, चाह नहीं होती। चाह है तो सम्भव है। यह तर्कशास्त्र का मन्तव्य है कि नित्यत्व, अमृतत्त्व, आनन्द और पूर्णज्ञान की कामना हम कभी बिना पूर्ण किए मिटा नहीं सकते। मृत्यु, अज्ञानता और दुःख हमें प्रिय नहीं हैं। इन तीनों को हम प्यार नहीं करते, इनसे हम भयभीत नहीं रहते हैं। मृत्यु, अज्ञान और दुःख को दूर किया जा सकता है।

मैं आपको बता रहा था कि क्लेश का मूल कर्माशय है और वही

कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट, दोनों जन्मों में हमें अनुभूति कराता है। इसके आगे का सूत्र है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

—योगसूत्र २/१३

कर्मों का परिणाम ही जन्म है और वे कर्म जन्म के साथ जाति, आयु और भोग, इन तीन रूपों में अपना फल देते हैं।

हरि ॐ तत्सत्

६

मेरी प्रिय आत्माओ!

आपको पूर्व में बताया था कि क्लेश कर्माशय में रहते हैं तथा दृष्ट और अदृष्ट जन्म में अनेक प्रकार के दुःख और सुख रूपी भोग देते हैं। भोग की अनुभूति में जन्म ही कारण होता है। जन्म का मूलाधार कर्माशय है। कर्माशय में क्लेश का बीज रहता है और कर्माशय का भोक्ता जीव है। ईश्वर में कर्माशय नहीं है। जीव और ईश्वर की महता यहाँ भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन की गई है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसे स्वीकार किया है। प्रश्न हो सकता है कि यदि जीव तथा ईश्वर दोनों चेतन हैं और दोनों ज्ञानस्वरूप हैं तो दोनों के गुण, कर्म, और स्वभाव में अन्तर क्यों है? इसका समाधान करते हुए पतञ्जलि ने कहा कि जीव कर्माशय के अधीन होकर विभिन्न प्रकार की जातियों में विभिन्न प्रकार की आयु को प्राप्त हो, नाना प्रकार के सुख और दुःख के भोगों को भोगता है। ईश्वर में क्लेश, कर्म, विपाक और आशय को स्थान नहीं है, जीव में ये चारों हैं। आशय माने वही कर्माशय जिसमें कर्म का बीज रहकर पकता है और विकास ग्रहण करता है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, इन सभी से ईश्वर सर्वथा अपरामृष्ट है। जो इनसे कभी परामृष्ट हुआ ही नहीं उस

परम चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। वही गुण, धर्म और स्वाभाव जीव के भी हैं जो ईश्वर के हैं। तत्त्वतः दोनों में कोई भेद नहीं। अन्तर केवल इतना ही है कि व्यष्टि चित्तगत होने के नाते जीव कर्म, विपाक और आशय से परामृष्ट है। यही जीव और ईश्वर में अन्तर है जो कि लघुता और विभुता के कारण है। समष्टि चित्तगत चेतन की संज्ञा ईश्वर है और व्यष्टि चित्तगत चेतन की संज्ञा जीव है। हैं दोनों चित्तयुक्त।

हमारे यहाँ दर्शनशास्त्र में जहाँ पर इसकी मीमांसा की जाती है वहाँ जीव के तीन भेद बताए गए हैं—नित्य जीव, मुक्त जीव तथा बद्ध जीव। नित्य जीव वे होते हैं जो सृष्टि के आदि में प्रकट होते हैं और अन्त में लय हो जाते हैं। ये ईश्वर कोटी के जीव होते हैं। हिरण्यगर्भ भी ईश्वर है जो सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होता है। वह कर्माशय से जन्म नहीं लेता, उसकी अभिव्यक्ति होती है। उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जीव अल्प है। अल्पता के नाते विभन्नता की अनुभूति होती है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

—गीता १३/१६

अविभक्त होता हुआ अपने आपको विभक्त जैसा देखता है। इस लघुता के कारण ही उसमें सारे दोष आते हैं। वायु अग्नि का मित्र है अर्थात् उसकी वृद्धि करने वाला है लेकिन वही अग्नि जब दीपक रूप में प्रकट होता है तो वायु उसका शत्रु हो जाता है अर्थात् उसे शान्त कर देता है। जो लघुता में दोष आते हैं वे विभुता में नहीं आते। पूर्ण पूर्णतया पवित्र है। एक पद में मैंने संकेत किया है—

है तत्त्वतः कछु भेद ना, विभु विभव भेद त्रिकाल है।
परब्रह्म है न बावरे, तू ब्रह्म ही का लाल है॥

यह विभु की स्थिति है। एक विभु है, दूसरा उसका विभव है। उस विभव में अल्पता के नाते सारे दोष आते हैं। वह क्लेश, कर्म,

विपाक और आशय आदि से युक्त होता है। ये सारे दोष जीव में हैं ईश्वर में नहीं। वैशेषिक के मतानुसार इञ्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान चेतन का धर्म है। जीव भी चेतन है, ईश्वर भी। जैसे अग्नि का धर्म है गर्मी और प्रकाश। दीपक जलाओ तो उसमें भी वही प्रकाश मिलेगा। यदि अग्नि का बड़ा-सा ढेर हो तो उसमें भी वही प्रकाश मिलेगा क्योंकि वह उसका धर्म है। धर्म कभी धर्मी को छोड़कर रह नहीं सकता चाहे वह पूर्णरूप में हो या अंशरूप में। यदि यह मान लिया जाए कि इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख चेतन के धर्म हैं, फिर तो ये ईश्वर में भी होने चाहिए। जैसे जहाँ अग्नि है वहाँ प्रकाश होता ही है, ठीक उसी प्रकार जहाँ चेतन है वहीं ये होने चाहिए, किन्तु सांख्य के मतानुसार यह चेतन के धर्म नहीं, चेतन के संसर्ग से प्रकृति में उत्पन्न हुए विकार हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में भगवान् का कथन है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।

—गीता १३/६

अतः तत्त्व से सम्बन्धित जितनी बातें हैं, ये तर्क और युक्ति के द्वारा समझनी चाहिए। जीव रूपी चेतन में प्रकृति के संयोग से प्राप्त हुई लघुता के नाते ही क्लेश, कर्म, विपाक और आशय आदि होते हैं, तत्त्वतः ये उसके धर्म नहीं हैं। तुलसीदास जी ने रामायण में बड़ी सुन्दर उपमा दी है—

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना।
कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिलें सो पावन जैसें।
ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥

—रा० १/६९-१, २

कोई शराब ले आए और कहे कि यह शराब मैंने गंगा जल से बनाई है,

इसमें और कोई पानी प्रयोग नही किया, तो गंगाजल से बने होने के नाते उस शराब का सन्तजन कभी सेवन नहीं करेंगे क्योंकि शराब तो शराब है। यदि उसी शराब के घड़े गंगा जी में डाल दिए जाएँ तो वह गंगाजी को अपवित्र नहीं कर सकते। गंगाजी का अपना गुण उसको आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार ईश और अनीश में अन्तर है। जीव, ईश्वर का अंश है किन्तु वह ठीक उसी प्रकार से दोषयुक्त हो गया है जैसे मदिरा के पात्र में रखा हुआ गंगाजल। ईश्वर गंगा जी के समान है और जीव पात्र में रखे हुए गंगाजल के। तत्त्वतः दोनों में कोई भेद नहीं है। लघुता के नाते इसमें सामर्थ्य नहीं है कि वह विकारों से बच सके परन्तु वहाँ विभुता के नाते विकारों की कोई गुंजाइश ही नहीं है। समष्टि चित्तगत चेतन की संज्ञा ईश्वर है। वही जब व्यष्टि चित्तगत हो जाता है तो जीव संज्ञा को प्राप्त हो जाता है और उसमें ये सारे दोष आ जाते हैं। जो दोनों प्रकार के चित्तों से रहित है, उसे ब्रह्म कहते हैं। वहाँ समष्टि और व्यष्टि चित्त का प्रश्न ही समाप्त हो गया है। दोनों से परे जो कारणावस्था है, वह ब्रह्म की है, ऐसा शास्त्र बताता है। इसलिए बार-बार जन्म-मरण जीव के साथ लगा है और जीव ही दूषित होता है, ईश्वर आविर्भूत होता है। यही कारण है कि वह इन क्लेषादि रोगों से पीड़ित नहीं होता।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

—योगसूत्र १/२५

परमात्मा में निरतिशय रूप से सर्वज्ञता का बीज निहित है। वह किसी के मुकाबले में सर्वज्ञ नहीं है, वह स्वभावतः ही सर्वज्ञ है क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार के व्यवधान की स्थिति नहीं है, किसी प्रकार का दोष नहीं है। वह निर्गुण कहा जाता है, वह समस्त गुणों का अधिपति है और समस्त गुणों से परे है। यही बात गीता के चौथे अध्याय में भगवान्

ने बताई है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

—गीता ४/६

प्रभु कहते हैं कि मैं किसी कर्म के बन्धन में होकर जन्म नहीं लेता। अपनी इच्छा से अपनी प्रकृति को माध्यम बनाकर प्रकट हो जाता हूँ और अपनी इच्छा से ही चला जाता हूँ। न हमारी जाति निश्चित है, न आयु और न भोग ही क्योंकि ये सारे कर्म विपाक से सम्बन्धित हैं और मैं उससे अतीत हूँ। जो मेरे इस दिव्य भाव को जान लेता है, वह भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रुति का भी यही कथन है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

—श्वेता० ४/७

जब वह उसकी महिमा को जान लेता है तो शोकरहित हो जाता है। इसी बात को यजुर्वेद में कहा गया है कि उसको देखा वही हो गया क्योंकि वह वही था। ईश्वर की महिमा को जानकर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर-भाव को प्राप्त करना ही जीव के जीवत्व का प्रायोजन है। गीता, उपनिषद् और वेद में यही कहा गया है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।

—ईशा० १६

जब तक जीव ईश्वरत्व का अनुभव नहीं करता तब तक वह क्लेश का मूल कर्माशय बना रहता है। उस कर्माशय का ही नाश करना है। कर्म का बीज कर्त्तापन का भाव है जिसका नाश ज्ञान से होता है। कर्त्ताभाव का नाश होते ही कर्माशय नष्ट हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

—मुण्डकोपनिषद् २/२-८

कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्या रूप वह गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने जड़ शरीर को ही अपना स्वरूप मान रखा है। इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् यह जीव सब बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है। जब तक वह तत्त्व-बोध नहीं हुआ, कर्माशय बना हुआ है तो उसका परिणाम क्या होगा, वह क्या करेगा? आगे इस सम्बन्ध में कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

—यो०सू० २/१३

इस कर्माशय का जो विपाक है, विपाक माने पक जाना अर्थात् कर्म जब पक जाते हैं तो अपना फल देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बेईमानी करने वाले सुखी रहते हैं और ईमानदार दुःखी। इसका मतलब है कि ईमानदारी दुःख का कारण है। तो क्या फिर ईमानदारी छोड़ देनी चाहिए? नहीं, यह भ्रम है। याद रखो, जो कर्म आज हम कर रहे हैं, वह अभी हमें फल देंगे ऐसा नियम नहीं है। वे फल देंगे अवश्य, पर जब पकेंगे तब। हम बहुत से ऐसे बीज डालते हैं जो साल या दो साल में फल देते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो तीन महीने में फल देते हैं। कुछ ऐसे हैं जो बोओ तो साथ में ही फल देते हैं। कुछ ऐसे हैं जो वर्षों में फल देते हैं। कौन-सा बीज कब फल देता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका परिपाक कब बनता है। बिना परिपाक हुए फल नहीं दे सकता इसलिए जो हम आज काम कर रहे हैं कल ही फल दे देंगें, ऐसा कोई

नियम नहीं है। हमारे कर्माशय में उसके संस्कार रहेंगे, जब परिपाक होंगे तो फल देंगे। यदि ज्ञान के द्वारा कर्माशय नष्ट हो गया है, ज्ञान की अग्नि ने यदि कर्मों को भस्म कर दिया है, अंहकार और कर्त्तापन समाप्त हो गया है; कर्तृत्व भाव मिट गया है या पूर्णज्ञान के साथ परमात्मा को समर्पित हो गया है, फिर तो कर्माशय रहा ही नहीं तो फल कौन देगा? यदि ऐसी स्थिति नहीं आई, कर्माशय बना हुआ है फिर तो फल भोगना ही पड़ेगा। कर्माशय तीन प्रकार से फल देते हैं—जाति, आयु और भोग। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने बताया है—

शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

—गीता ६/४१

जो अच्छे रास्ते पर चले हुए लोग हैं यदि उनका शरीर मंज़िल पर पहुँचने से पहले ही छूट जाता है तो घबराने वाली कोई बात नहीं। वे अगले जन्म में किसी अच्छे कुल में पैदा होंगे। उनकी साधना व्यर्थ नहीं जाएगी। वह अगले जन्म में विकास का कारण बनेगी। भगवान् कहते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।

—गीता ६/४०

एक बार यदि किसी ने कल्याण के मार्ग पर पाँव रख दिया तो वह दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता यानी उसके संस्कार नष्ट नहीं होते। दूसरे अध्याय में कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

—गीता २/४०

यदि आपने थोड़ा-सा भी इस धर्म का अनुष्ठान किया है तो वह आपको महान भय से अर्थात् निम्न योनीयों में जाने से बचा लेगा।

जितना मार्ग इस जीवन में तय किया है उतना सार्थक है, इसके अभिक्रम अर्थात् प्रारम्भ का नाश नहीं होता तथा उसका उलटा फल भी नहीं होता। जो योग भ्रष्ट है अर्थात् जो किसी कारणवश अपने साधन से च्युत हुआ है, वह विनष्ट नहीं होगा। जिस कारण से वह रुक गया है, उस विषय के संस्कार उसके भोग के माध्यम बनेंगे और इस शरीर को छोड़कर वह उसी दिव्यालोक में जाएगा जहाँ पर इस प्रकार के भोगों की बहुतायत है। वहाँ जाकर कुछ काल तक उन भोगों को भोगने के पश्चात् पुनः इस संसार में आकर किसी श्रीमान के घर में जन्म लेगा, जहाँ से साधन छोड़ा था। समय आते ही उसका साधन वहीं से शुरु हो जाएगा और वह आगे बढ़ जाएगा। इस प्रकार से—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

—गीता ६/४५

अनेक जन्म लग सकते हैं सिद्धि प्राप्त करने में, पर विनाश का भय नहीं है। अभिप्राय यह कि यदि आपने एक दिन भी साधन किया है या निश्चय किया है कि हम साधन करेंगे तब भी आपका वह निश्चय व्यर्थ नहीं जाएगा। इसका फल यह होगा कि आपका अच्छे कुल में जन्म होगा और आप इससे आगे बढेंगे।

जिस प्रकार जाति है उसी प्रकार आयु भी है। आयु की भी सीमा है। ज्योतिष शास्त्र को जानने वाले अच्छी प्रकार इसकी मीमांसा करते हुए बताते हैं कि जातक इतने दिन में मरेगा, इसलिए आयु भी निश्चित है। भोग का अभिप्राय सुख और दुःख है। बहुत से ऐसे सम्पत्तिशाली आपको मिलेंगे जिनके पास नाना प्रकार की सम्पति है पर भोग नहीं कर सकते। यदि भाग्य में सुख भोगने का है तो वह भोग लेता है चाहे वह जहाँ भी बैठा हो तथा जिस किसी अवस्था में हो। इसलिए जाति, आयु और भोग, ये तीन बातें आपके प्रारब्ध के ऊपर निर्भर हैं।

एक बात यहाँ पर आप लोग समझ लें। भोग के दो भेद हैं—सुख और दुःख। यह कर्म का ही परिणाम है। भोग भोगने के लिए कहा है कि—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

—गीता १३/८

जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के रूप में कई प्रकार से इसको भोगा जाता है अर्थात् इसकी अनुभूति होती है। कर्माशय में दो प्रकार के संस्कार होते हैं—पापमय तथा पुण्यमय। पापमय संस्कार से दुःख तथा पुण्यमय संस्कार से सुख प्राप्त होता है। कर्म का सिद्धान्त जीवत्व की अवस्था में अटल सिद्धान्त है किन्तु अहं का नाश होते ही कर्म का नाश हो जाता है। सुख-दुःखात्मक फल व्यक्ति को संस्कारानुसार मिलता है। यह अहं से सम्बन्धित होता है। यदि कर्म का नाश न हो तो मुक्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा क्योंकि भोगने में भी कर्म होता है तथा उसका संस्कार बनता है। कर्म करता जाए और भोगता जाए इसका तो अन्त होगा ही नहीं, इसलिए दर्शनशास्त्र में बताया गया है कि कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनिवार्य नहीं कि कर्म भोगना ही पड़ेगा, ज्ञान हो जाने पर कर्म के आधार रूप अहं का नाश हो जाता है। वहाँ पर कर्म वा कर्त्ता की गुंजाइश ही नहीं रहती। जब कर्म ही नहीं तो कर्म का संस्कार कहाँ रहेगा? पतञ्जलि ने कहा कि मूल वृत्ति को ध्यान की अग्नि में शीघ्र नष्ट कर दो, ये अपने आप नष्ट हो जाएंगे। पुण्य से आह्लाद मिलता है। यदि धर्म करोगे तो सुख मिलेगा। एक महात्मा कहा करते थे—

चार वेद छः शास्त्र में बात मिलि है दोय।
सुख दीने सुख होत है दुःख दीने दुःख होय॥

अच्छा कर्म करोगे तो सुख मिलेगा, बुरा कर्म करोगे तो दुःख मिलेगा। आपका पुण्य सुख भोगने से रुक नहीं सकता। पुण्य सुख देगा,

पाप दुःख देगा। सुख-दुःख का नाश होगा तो पाप-पुण्य दोनों का नाश होगा। यहाँ प्रश्न होता है कि फिर तो जो सुख की कामना रखता है उसे पुण्य करना चाहिए और जो सुख की कामना नहीं करता उसे पाप करना चाहिए? सुख की चाह तो सभी को है इसलिए पुण्य ही किया करें, कर्म या कर्माशय को नष्ट करने की क्या जरूरत है? इसके उत्तर में पतञ्जलि कहते हैं कि यह जो पुण्य में सब दिखाई दे रहा है, यह भी दुःख रूप है।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

—योगसूत्र २/१५

परिणाम दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख बने रहने से तथा गुणों की वृत्तियों में विरोध होने से विवेकी के लिए सुख भी दुःखवतः ही होता है। जो पुण्य वाला सुख है वह भी एक प्रकार से दुःख रूप है। क्यों है? इसकी व्याख्या गीता में की गई है—

ते तं भुक्तवा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

—गीता ९/२१

कभी किसी का पुण्य उदय हुआ तो सुख के साधन मिल गए, यदि पाप उदय हुआ तो दुःख के साधन मिल गए। यदि कोई कहे कि हम पुण्य ही करेंगे पाप करेंगे ही नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। कोई ऐसा कर्म है ही नहीं जो पाप-दोष से रहित हो। गीता के १८वें अध्याय में भगवान् ने बताया कि जितने धर्म हैं सभी ऐसे दोषयुक्त हैं जैसे कोई कैसी भी अग्नि जलाए तो धुंआ होता है। आप बल्ब जलाएँ, धुआँ वहाँ भी होता है, पर इतना सूक्ष्म है कि आप देख नहीं सकते। जिसको आप देख नहीं सकते वह है ही नहीं ऐसा कोई कानून नहीं है। जहाँ आप अग्नि जलाएँगे धुंआ अवश्य होगा। भगवान् कहते हैं कि कोई ऐसा कर्म

नहीं जिसमें दोष न हो। हरेक कर्म में दोष होता है। दोष रहित कोई कर्म हो नहीं सकता क्योंकि कर्म दो पहलुओं से होते हैं—प्राकृतिक और अप्राकृतिक अर्थात् प्रकृति और पुरुष। पुरुष के प्रकाश में ही कर्म की प्रवृत्ति होती है। पुरुष की अध्यक्षता में सतोगुण के प्रकाश में तमोगुण के आधार पर रजोगुण काम करता है। बिना अधिष्ठान के कोई कर्म हो नहीं सकता। अधिष्ठान तमोगुण का परिणाम है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

—गीता १८/१४

भगवान् ने गीता में कहा है कि अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और देव, ये पाँच जब मिलते हैं तब कर्म बनता है। कोई ऐसा कर्म नहीं जो सर्वथा निर्दोष हो। प्रकृति-जन्य दोष तो कर्म में लगा ही रहता है। अतः जिस दिन आपका पुण्य क्षीण हुआ उसी दिन आपको उसके दूसरे पहलू का सामना करना पड़ेगा। ऊपर से जब आप नीचे गिरेंगे तो जितना दुःख होगा उतना रास्ते पर चलने वाले को नहीं होगा। जो उच्च भोगों को भोग कर नीचे आता है अर्थात् जो सुख के बाद दुःख भोगता है, उसको दुःख अधिक महसूस होता है। हरेक सुख का परिणाम दुःख है। अपने से अधिक सुखी को देखकर लोग दुःखी होते हैं। परिणाम, ताप, संस्कार अर्थात् भुक्त भोग की स्मृतियाँ हमें दुःख दिया करती हैं। गुण वृत्ति विरोधा च—तीनों गुणों की वृत्तियाँ (रजोगुण की वृत्ति सक्रियता है, सतोगुण की वृत्ति प्रकाश है और तमोगुण की वृत्ति स्थिति है) परस्पर विरोधी हैं, इसलिए इनके फन्दे में नहीं पड़ना चाहिए। विवेकी के लिए सुख भी दुःख रूप है, इसलिए वे न पुण्य अर्जित करते हैं न पाप।

पुण्यापुण्य विवर्जित पंथा।

ब्रह्म मार्ग पुण्य और अपुण्य से रहित है। गीता में भगवान् ने

बताया कि इसे सत्कर्म कहते हैं। कर्म का फल शुभ या अशुभ होता है। शुभ कर्म शुभ फल देता है, अशुभ कर्म अशुभ फल देता है। इन दोनों से रहित जो कर्म होते हैं उन्हें सत्तकर्म कहते हैं। विवेकी के लिए सुख भी दुःख रूप है इसलिए वे हमेशा इस दुःख से बचने की कोशिश करते हैं। इस दुःख से कैसे बचा जा सकता है, इस सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

हेयं दुःखमनागतम्।

—यो०सू० २/१६

आने वाले दुःख से बचो। जो दुःख भोग लिया वह भोग लिया, वर्तमान में तुम दुःखी हो नहीं इसलिए आने वाले दुःख से बचो। जब आने वाले दुःख से बचोगे तो परम निर्वाण को प्राप्त करने की क्षमता आप में आ जाएगी। आगे कल विचार किया जाएगा।

हरि ॐ तत्सत्

७

मेरी प्रिय आत्माओ!

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

— योगसूत्र २/१३, १४, १५

पहले इन तीन सूत्रों की व्याख्या की थी। सारांश यह कि कर्माशय में पुण्यमय और पापमय संस्कार हैं। ये दोनों संस्कार जब अपने विपाक को प्राप्त होते हैं तभी फल देते हैं। पापमय संस्कार से फल रूप में दुःख मिलता है, पुण्यमय संस्कार से सुख मिलता है। अगले सूत्र में बताया गया है कि ये दोनों ही त्याज्य हैं। क्यों त्याज्य हैं? इस पर आचार्य कह रहें है कि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

— यो०सू० २/१५

जो संसार के सुख हैं वे भी दुःख ही देकर जाते हैं इसलिए वे भी त्याज्य हैं। भोग की अवस्था में इनके छिन जाने का भय बना रहता है, इसलिए परिणाम ही दुःख है। ताप का अभिप्राय है जलन जो ईर्ष्या से

उत्पन्न होती है। जो भोग हम भोग रहे हैं, हमारे बगल वाला इससे अच्छा और अधिक भोग रहा है, भोग काल में अपने से अधिक भोगने वालों के प्रति ईर्ष्या। ताप दु:ख का कारण है। संस्कार दु:ख का अभिप्राय है कि जब ये सुख के साधन छिन जायेंगे तो बाद में उनकी याद बनी रहेगी और वे सुख के संस्कार दु:खद होंगे। ये सुख के साधन जाते समय दु:ख देकर जाते हैं। भोगते समय अपने से अधिक के प्रति ईर्ष्या पैदा करते हैं, छिन गए तो इनकी याद दु:ख देती रहती है। तीनों अवस्थाओं में ही ये दु:खद हैं यानी वर्तमान, भूत और भविष्य, तीनों कालों में दु:खद हैं अत: विवेकी के लिए संसारिक सुख भी दु:ख रूप है। अविवेकी के लिए आह्लाद आह्लाद है और परिताप परिताप है लेकिन विवेकी के लिए दुनिया के आह्लाद और परिताप दोनों एक ही श्रेणी के हैं। स्वामी रामतीर्थ जब रामतीर्थ नहीं थे तीर्थराम थे, उन दिनों में भी वे साधना की अच्छी स्थिति में थे। उनके घर से पत्र आया कि आपके यहाँ लड़का हुआ है। जब उनके मित्र उनको बधाई देने आए, उन्होंने उनसे कहा कि बधाई की क्या बात है, समुद्र में एक नाला और मिल गया। मेरे कहने का अभिप्राय समझदार लोगों के लिए न जन्म सुख वाली बात है और न मृत्यु दु:ख वाली। जो सुख में आह्लाद लेगा उसे दु:ख में रोना भी पड़ेगा। जो सुख के स्वाद में अनुरक्त नहीं होगा उसे दु:ख की व्यथा भी नहीं होगी। इसलिए संसार का सुख भी—'दु:खमेव सर्वं विवेकिन:'—विवेकी के लिए दु:खरूप ही है। गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने बताया कि दुनिया वालों के लिए जो रात्रि है विवेकी उसमें जागता है और दुनिया वालों के लिए जो दिन है विवेकी उसमें सोता है। दुनिया वालों के लिए सुख का साधन दिन है जिसे वह रात्रि जानता है। विवेकी के लिए संसार के साधनों में कहीं सुख नहीं है। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि भगवान् बुद्ध को सबसे पहले दु:ख का दर्शन तब हुआ जब उनकी पत्नी प्रसव

की वेदना से कराहने लगी। इससे पहले उन्होंने कभी दुःख नहीं देखा था। उनको बड़ा धक्का लगा। उनके पिता उन्हें कभी परकोटे से बाहर निकलने नहीं देते थे क्योंकि उन्हें किसी ज्योतिषी ने बताया था कि आपका पुत्र तो संन्यासी होगा। जहाँ वे रहते थे वहाँ बूढ़े और रोगी को जाने की इजाजत नहीं थी। सदैव युवा लड़के और लड़कियाँ ही उनके पास रहते थे। यही कारण था कि उन्होंने जीवन में कभी दुःखी व्यक्ति को देखा नहीं था। पिता ने सोचा कि अब यह अपनी पत्नी और बच्चे में मस्त रहता है, उन्हें छोड़ नहीं सकता, अब तो ज्योतिषी की बात पूरी नहीं हो सकती तो उन्होंने उसे बाहर घूमने की अनुमति दे दी। एक दिन रथवान उन्हें रथ पर बिठाकर बाहर ले गया। अभी थोड़ी दूर ही गए थे कि एक बूढ़ा व्यक्ति लाठी टेकता हुआ आ रहा था। उन्होंने रथवान से पूछा यह कौन है? रथवान ने उत्तर दिया बूढ़ा आदमी। उन्होंने पूछा बूढ़ा क्या होता है? यह शरीर की अवस्था होती है, जब व्यक्ति ऐसा हो जाता है। वे चिन्तित हो गए और रथवान से वापिस लौटने के लिए कहा। वे चार बार महल से बाहर निकले—पहली बार बूढ़ा, दूसरी बार रोगी और तीसरी बार मरा हुआ व्यक्ति देखा। प्रत्येक घटना के बाद उन्हें लगा कि यही मेरे साथ भी होगा। चौथी बार जब निकले तो कपिलवस्तु की बगल में एक नदी बहती है, उसके किनारे चले गए। वहाँ एक मस्त योगी बैठा हुआ देखा और पूछा कि यह कौन है? रथवान ने बताया कि यह संन्यासी है, संसार से इसका कोई मतलब नहीं है। इसका न कोई अपना है न यह किसी के हैं। यह ब्रह्म का ध्यान करते हैं और मस्त रहते हैं। उन्होंने पूछा, इन्हें रोग, वृद्धावस्था, जन्म आदि की पीड़ा नहीं? रथवान ने उत्तर दिया, यह इनसे मुक्त हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि यही उनका रास्ता है। उसी रात मध्य रात्रि उठे; उसी रथवान को साथ लिया, दो घोड़े लिए और नदी पार कर गए और संन्यास का मार्ग

अपना लिया। यह भगवान् बुद्ध के जीवन की घटना है। जिन घटनाओं को देखकर भगवान् बुद्ध ने अपने राज्य का त्याग कर दिया, उन्हीं घटनाओं को जिससे पूछा था, उस रथवान ने अपनी रथवानी नहीं छोड़ी, वह संन्यासी नहीं बना क्योंकि वह रोज़ देखने का आदि हो चुका था। भगवान् बुद्ध ने एकाएक देखा इसलिए उन्हें धक्का लगा और वह विरक्त बन गए। मैं बता रहा था कि विवेकी के लिए संसार के सुख के साधन भी दुःख रूप हैं, अविवेकी के लिए सुख सुख है, दुःख दुःख है। इस सृष्टि में कितनी बार जन्में हैं, कितनी बार मरे हैं, क्या पता? प्रत्येक जन्म नया ही लगता है। सृष्टि का प्रवाह चलता ही रहता है। जो जिस तथ्य से अवगत होता है, वही उससे उपराम होता है तथा जो अवगत नहीं होता उसे तो कुछ पता ही नहीं चलता; प्रवाह में बहता ही रहता है। योगदर्शन कहता है—

हेयं दुःखमनागतम्।

—यो०सू० २/१६

आने वाले दुःख से बचो। जो वर्तमान में है उसकी कोई सीमा नहीं है। जो बीत गया है उसके लिए कुछ हो नहीं सकता इसलिए भविष्य के दुःख से सावधान रहो क्योंकि वह त्याज्य है। दुःख के कारण को समझकर ही उसका त्याग किया जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने इसलिए चार आर्य सत्य घोषित किए हैं। यह भगवान् बुद्ध की अपनी बात नहीं थी वह तो बुद्ध से पहले योग दर्शन, सांख्य दर्शन, न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में वर्णित है—

हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय।

'हेय' माने दुःख, 'हेय हेतु' माने दुःख का कारण, 'हान' दुःख को दूर किया जा सकता है, 'हानोपाय' उसके लिए उपाय है। ये चार बातें भगवान बुद्ध ने आर्य सत्य के रूप में घोषित की हैं। दुःख का कारण

क्या है, इसका उपाय क्या है, इसकी मीमांसा उन्होंने की है। अविद्या या तृष्णा ही इसकी हेतु है, इसको दूर करने के उपाय योग के साधन हैं— द्वादश कारण की प्रक्रियाएँ, दस साधना और चार आर्य सत्य—यही बुद्ध धर्म का सार है। उन्होंने इतने का ही प्रचार किया क्योंकि वह एक सूक्ष्म वक्ता थे। वह किसी भी बात को एक बार कहते थे। यदि कोई इसके अतिरिक्त प्रश्न करता था तो कहते थे कि यह तुम्हारा अति प्रश्न है, इसका कोई उत्तर नहीं है। वह कभी नहीं कहते थे कि जो उन्होंने बात कही है वह नई है। वह वेद को स्वीकार करते थे। वह अपनी विचारधारा को बहुत संक्षेप में कहते थे, यही कारण था कि उनकी विचारधारा पूरे एशिया में फैली। कोई व्यक्ति कितन महान् है उसका यह भी प्रमाण है कि उसकी विचारधारा किस ढंग से व्यापक हो रही है। उन्होंने एशिया को प्रकाश दिया और मानव को आत्मीय होने का उपदेश दिया।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि आने वाले दुःख से बचो। दुःख कैसे आया, उसके कारण को समझो। आगे कारण समझा रहे हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

—यो०सू० २/१७

दुःख का कारण है द्रष्टा और दृष्य का संयोग। द्रष्टा माने देखने वाला और दृष्य माने संसार। इनका संयोग ही दुःख का कारण है। दूसरे शब्दों में चित्त और चेतन का संयोग ही मूल रूप में इसका कारण है। गीता के पाँचवें अध्याय में कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

—गीता ५/२२

ये जो स्पर्श से उत्पन्न होने वाले स्वाद है, यही दुःख की जड़ है। भगवान् कहते हैं कि ये आदि और अन्त वाले हैं, इसलिए विवेकी लोग

इनमें रमन नहीं करते। इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें संस्पर्शजन्य अनुभव नहीं होता। म्पर्श तो इन्द्रियों का सहज धर्म है, वह तो होगा ही। यदि कहीं शरीर नहीं दिव्यात्मा है तो वहाँ दुःख काहे का। उपनिषद् कहती है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।

—श्वेता० २/१२

वहाँ पर वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु, ये तीनों ही नहीं हैं क्योंकि वहाँ पर स्थूल शरीर नहीं है। दुःख का कारण तो इन्द्रियजन्य भोग है। यह दृष्य क्या है जिसके साथ द्रष्टा का संयोग हुआ है, इसकी व्याख्या आगे के सूत्र में कर रहे हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

—यो०सू० २/१८

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसके धर्म हैं, भूत और इन्द्रियाँ जिसके स्वरूप हैं तथा भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृष्य है। प्रकाश सतोगुण का, क्रिया रजोगुण का तथा स्थिति तमोगुण का जो धर्म बताया गया है, ये गुणों के कार्य हैं। गुणों की अनुभूति तो हो ही नहीं सकती। ये अव्यक्त हैं, हमारी सीमा से तथा हमारी ग्प्रहक शक्ति से परे हैं, इसलिए इनके कार्य की ही अनुभूति होती है।

पदार्थों की तीन अवस्थाएँ हैं—गैस, तरल और ठोस, जिन्हें वेद में तेज, अप और अन्न कहा गया है। तात्त्विक प्रकृत सिद्धान्त तीन का ही है। पंचभूतों का सिद्धान्त विषयों का कारण है। तत्त्वतः आकाश, वायु और अग्नि तक तो तेज तत्त्व ही है जिसे गैसिज़ कहा जाता है। प्रत्येक प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्ति तरल है तथा प्रत्येक प्रकार का स्थूल ठोस है। ये अव्यक्त की तीन अवस्थाएँ हैं इसलिए अव्यक्त के तीन गुण कहे जाते हैं। ये तीन गुण किसी ने देखे नहीं। इनसे इन्हें जाना जाता है।

गैसिज़ का धर्म प्रकाश, तरल का धर्म गति और ठोस का धर्म स्थिति है। कुछ विद्वानों ने इसे इलैक्ट्रान, प्रोटोन और न्यूट्रान के साथ भी जोड़ा है। सांख्य दर्शन में इसके कार्य को आकर्षण, विकर्षण और स्थिति माना है। सतोगुण आकर्षण है, रजोगुण विकर्षण तथा तमोगुण स्थित्यात्मक है। इनके रंग भी बताए हैं—उज्ज्वल, रक्त वर्ण और काला।

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां।

—*श्वेता० ४/५*

श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मन्त्र में इसी रहस्य का उद्घाटन हुआ है। यहाँ पर अजा शब्द के दो अर्थ हैं—बकरी और अव्यक्त प्रकृति। यह तीन रंग वाली चितकबरी बकरी अपने जैसी बहुत सी सन्तानें उत्पन्न करती है। सारी सृष्टि तीन रगों से भरी हुई है—काला, लाल और सफेद। इसी से आगे और रंग बनते हैं। सूत्र में कहा है-भूतेन्द्रियात्मकम् अर्थात् भूत और इन्द्रियाँ। भूत माने पंच महाभूत तथा तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ माने—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहं। वैसे तो इन्द्रियाँ सात हैं—पाँच ज्ञानन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि। वेद और उपनिषद् में अहं को इन्द्रियाँ नहीं माना केवल मन और बुद्धि को ही इन्द्रिय माना है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात हैं, इसलिए उपनिषदों में इन्हें सप्त ऋषि कहा गया है। कर्मेन्द्रियाँ तो इनके ही यंत्र हैं। वेद में कहा गया है कि ये सप्त ऋषि सतत यज्ञ करते हैं। आत्मा की उपासना में ये सौ वर्ष का अनुष्ठान लेकर बैठे हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि जब यह आत्मा यजमान सो जाता है तब भी उसके पुरोहित लोग जागते रहते हैं। इस रूपक के द्वारा जीवन के रहस्य का विवेचन किया गया है। इसको समझने के लिए यदि प्रभु की दया हो तभी प्रखर प्रज्ञा मिल सकती है। दृष्य की व्याख्या में महर्षि कहते हैं कि प्रकाश, क्रिया और स्थिति इसके धर्म हैं, भूत और इन्द्रियाँ इसके स्वरूप

हैं। भोगापवर्गार्थम् अर्थात् भोग और अपवर्ग इनका प्रयोजन हैं। यह दृष्य जगत केवल भोग के लिए नहीं अपवर्ग के लिए भी है। इससे मोक्ष भी आप प्राप्त कर सकते हैं। तुलसीदास जी ने लिखा है—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

—रा० ७/१२१-१०

मानव शरीर एक सीढ़ी है चाहे इसे स्वर्ग के रास्ते पर लगा दो या नरक के रास्ते पर और चाहे मोक्ष के रास्ते पर। किस रास्ते पर लगाना है यह आप पर निर्भर है। गुणों के स्वभाव और स्वरूप की अनुभूति का नाम भोग और गुणों की पूर्ण अनुभूति के पश्चात् उससे उपरति का नाम मोक्ष है। यह दृष्य दोनों ही प्रदान करते हैं।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

—यो०सू० २/२१

दृष्य की आत्मा, दृश्य का सारा वैभव द्रष्टा के लिए है। बिना भोग के अपवर्ग नहीं होगा। जब तक प्राकृतिक गुणों की आपको अनुभूति नहीं होती तब तक उससे विरक्ति नहीं हो सकती क्योंकि—

संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।

किसी का संग्रह और त्याग बिना जाने नहीं होता इसलिए उनको जानना जरूरी है। भोग और अपवर्ग, दोनों ही पुरुष के लिए हैं। इसकी अगले सूत्र में विस्तृत व्याख्या है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

—यो०सू० २/१९

गुण की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग। ये गुण के चार पर्व हैं या स्तर हैं। महतत्त्व से लेकर अहं तक अविशेष है। अहं से नीचे जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच

महाभूत और एक मन है, ये १६ विशेष हैं। महतत्त्व लिङ्ग मात्र है। महतत्त्व से परे अव्यक्त प्रकृति अलिङ्ग है। महतत्त्व को वेद सांख्य दर्शन में हिरण्यगर्भ कहा है। उसी हिरण्यगर्भ को शिवपुराण में ज्योर्तिलिङ्ग कहा गया है। वही प्रथम चिन्ह है, वही ब्रह्माण्ड का प्रथम अभिव्यक्त रूप है, पर ब्रह्माण्ड लिङ्गमात्र नहीं विशेष है। लिङ्गमात्र वह है जहाँ पर अभी आप निश्चय नहीं कर सकते कि वह स्त्री है या पुरुष। उस महतत्त्व का प्रतीक हम शिवलिङ्ग बनाते हैं। यह गोला सा ब्रह्माण्ड के मूल कारण का प्रतीक है, इसे शिवलिङ्ग कहते हैं। यह शिवलिङ्ग ही ज्योतिर्लिङ्ग का प्रतीक है। ज्योर्तिलिङ्ग हिरण्यगर्भ लिङ्गमात्र है, यही तैजस है। हिरण्यगर्भ को तैजस कहते हैं और विराट को विश्व। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और ब्रह्म, ये चार स्तर हैं। ब्रह्म ही प्राज्ञ रूप में प्रकट होता है, यह उसी की अभिव्यक्ति है। प्राज्ञ से तैजस और विराट का अव्यक्त रूप तैजस ही हिरण्यगर्भ है। अनन्त ब्रह्माण्ड विराट है इसलिए इसे विश्व कहते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या कल की जाएगी, अभी आप इतने का ही चिन्तन करें।

हरि ॐ तत्सत्

८

मेरी प्रिय आत्माओ!

मैंने आप लोगों को बताया था कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही हमारे लिए दुःख का कारण है। मैंने आपको गुण की चार अवस्थाएँ बताई थीं—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। अव्यक्त प्रकृति को लिङ्ग कहते हैं। अलिङ्ग माने जिसका कोई चिन्ह नहीं है। यदि आप उस मूल तत्त्व का अनुसंधान करें तो वह आपको एक अद्वैत तत्त्व ही मिलेगा। वह न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नसुँसक लिङ्ग, इसलिए उसे अलिङ्ग कहते हैं। अलिङ्ग जब प्रकट होता है तो किसी प्रकार का लक्षण ग्रहण करता है, लिङ्ग ग्रहण करता है जिसे लिङ्गमात्र कहते हैं। उस रूप ग्रहण किए हुए लिङ्गमात्र तत्त्व के तीसरे स्तर को अविशेष कहते हैं। यदि उसे सामान्य स्तर से देखा जाए तो उसकी विशिष्टता का पता नहीं चलेगा इसलिए वह अविशेष है और वही जब किसी विशेष गुण, धर्म से सम्बन्धित हो जाता है तो उसे विशेष कहते हैं। विशेष माने जिसके धर्म का पता आप लगा सकें। जैसे आजकल के वैज्ञानिक १०० से अधिक तत्त्वों को स्वीकार करते हैं और बताते हैं कि उन्हीं के संयोग से अनेक प्रकार के तत्त्वों का आविर्भाव होता है। यही बात हमारे यहाँ

उपनिषदों में बताई गई है कि नित्य तत्त्व असंख्य हैं, इनकी गणना हम नहीं कर सकते। कुछ पार्थिव जगत में हैं, कुछ इससे भी परे दिव्यलोक में हैं जिनको हम नहीं जान सकते। अब तो वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा यह समझ पाए हैं कि छोटी चीज़ का भी कितना भार हो सकता है लेकिन ये वस्तुएँ इस दुनिया में नहीं हैं। वे कहते हैं कि ऐसे तत्त्व हैं पर दूसरे ग्रहों में। एक और अनुसंधान हुआ है। एक ब्लैक होल है, यदि हमारा पूरा सौरमण्डल कुछ करोड़ मील दूर से भी उसके सामने से ग़ुजरे तो वह उसकी आकर्षण शक्ति से उसी में विलीन हो जाएगा और उसका पता भी नहीं चलेगा।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि इस समय संसार के क्रम को बड़े विचित्र ढंग से देखा और मापा जा रहा है। मनुष्य के पास निरीक्षण और परीक्षण के वही साधन हैं जो इस पार्थिव जगत् में उपलब्ध हैं। वैज्ञानिकों ने इस जगत् के मूल रूप में लगभग १०० एलीमेंटस ढूँढ निकाले हैं किन्तु अध्यात्म विज्ञान केवल इस जगत की ही बात नहीं करता वह तो अनन्त ब्रह्माण्ड की बात करता है और कहता है कि ऐसे तत्त्व अनन्त हैं जिनका आप पता नहीं लगा सकते। वे सारे के सारे तत्त्व अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त हैं। पाँच भी अधिक हैं बल्कि तीन में ही उनका समावेश है जिसे तेज, अप और अन्न कहते हैं। यह सब तीन गुणों का ही परिणाम है जो चार अवस्थाओं में स्थित है। यह जो विश्व का स्वरूप है जिसे हम इस अवस्था में स्वीकार करते हैं, इसे विशेष कहते हैं। जैसे दो पुष्पों में गुण और धर्म के आधार पर अन्तर बताया जाता है, यदि किसी वैज्ञानिक से पूछें तो वह बताएगा कि दोनों के भिन्न-भिन्न गुण, धर्म हैं क्योंकि रासायनिक स्तर पर दोनों में भिन्न-भिन्न तत्त्व पाए जाते हैं परन्तु रासायनिक तत्त्व का मूल तो वही अव्यक्त तत्त्व है। सूक्ष्मतम परमाणुओं का अनुसंधान कीजिए, उनको

तोड़ दीजिए तो वहाँ पर इलैक्ट्रान, प्रोटोन तथा न्यूट्रान मिलेंगे। उनको भी यदि तोड़ दें तो वहाँ एनर्जी मिलेगी। ये सब एनर्जी की ही अभिव्यक्ति है। वही एनर्जी इन दोनों पुष्पों के रूप में है, किन्तु यह याद रखना कि जहाँ एनर्जी सत्य है वहाँ दोनों पुष्पों का भेद मिथ्या नहीं है लेकिन उनकी सत्ता एनर्जी से है। वह एनर्जी परम सत्य है और पुष्प व्यावहारिक सत्य है। इसलिए दुनिया में जितने पदार्थ हैं—लोहा, चाँदी और पीतल आदि वे सभी अपने स्तर पर सत्य हैं। इसे कहते हैं विशेष। विशेष माने वह प्रत्येक वस्तु जो अपना विशेष गुण और धर्म रखती है। दो वस्तुओं में भेद गुण और धर्म का है। यदि दोनों के गुण-धर्म समान हों तो दोनों में कोई भेद नहीं होगा। सारे जगत् में अनेकता का कारण यह विशेष ही है। जब यह विशेष अनेकता में प्रकट नहीं हुआ होता उस अवस्था में उसे अविशेष कहते हैं। जिससे अविशेष प्रकट होता है उसे लिंग कहते हैं। जिस अव्यक्त से ये सारे निकले हैं उसको अलिंग कहते हैं। आखिरी अवस्था अलिंग की है। जितने भी नकारात्मक विशेषण हैं, वे सब अलिंग के साथ लगाए जा सकते हैं। उसे निर्गुण, निराकार आदि कह सकते हैं। यह है परम तत्त्व का अव्यक्त स्वरूप। योगदर्शन कहता है कि सृष्टि के ये जो सारे पदार्थ हैं, इनके चार स्तर हैं। विशेष यह जो जगत् रूप में है, अविशेष जो सूक्ष्म रूप में है, लिंगमात्र जो इसका कारण है और अलिंग जो महाकारण है। जो इन चार अवस्थाओं में है, उसका प्राकट्य चेतन के भोग और मुक्ति के लिए है। यह तो बात हुई दृश्य की जो यह जगत है। दूसरा तत्त्व बिल्कुल इसके विपरीत है जो चेतन शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इसके स्वरूप का वर्णन अगले सूत्र में किया है।

द्रष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

—यो०सू० २/२०

द्रष्टा केवल द्रष्टा मात्र है, ज्ञेय है। निर्विकार होते हुए भी चित्त की

वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है। यह सारा जगत् ज्ञेय है, चेतन ज्ञाता है। श्रुति कहती है—

ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।

—*श्वेता०* ६/१६

वह सर्वविद् है, ज्ञाता है अर्थात् सबको जानने वाला है। वेदान्त का एक बड़ा ही सुन्दर सिद्धान्त है कि यदि कोई कहे कि हम परम तत्त्व तक पहुँच गए हैं, इसका अभिप्राय हुआ कि इससे आगे जानने वाला कोई सत्य नहीं है। वेदान्त कहता है तुम अभी परम तत्त्व तक नहीं पहुँचे क्योंकि जिस वस्तु को तुम जानते हो उस का अभिप्राय कि वह वस्तु तुम्हारे से भिन्न है। ज्ञाता और ज्ञेय, ये दोनों अलग-अलग हैं। इन दोनों को जोड़ने वाला ज्ञान है। तुम ज्ञाता हो और जिसको तुम जानते हो वह ज्ञेय है। ज्ञेय का बोध ज्ञान के द्वारा हुआ। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय जब तक इन तीनों का ज्ञान ज्यों का त्यों बना हुआ है तब तक तुम्हें अभी यथार्थ का बोध नहीं हुआ। जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, इन तीनों का अभाव हो जाता है वहाँ न द्रष्टा है न दृश्य है और न दर्शन है अर्थात् वहाँ न भोक्ता, न भोग और भोग्य है। जहाँ ये तीनों नहीं हैं वह है यथार्थ स्थिति। परम तत्त्व में स्थिति अथवा समाधि की स्थिति में भेद का सर्वथा अभाव हो जाता है। जब आप सुमिरन में होते हैं, आपको कुछ पता नहीं होता, वह अभावात्मक समाधि है जिसे जड़ समाधि कहते हैं परन्तु जब आप समाधि में होते हैं तो आपको पूर्ण ज्ञान होता है, आप ज्ञानमय और ज्ञेयमय होते हैं, वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये तीनों वस्तुएँ नहीं होती। द्रष्टा सदा ही शुद्ध है, उसमें अशुद्धता नहीं आती। दोष सावयव में है निरवयव में नहीं। यह ज्ञानस्वरूप द्रष्टा निरवयव है। प्रश्न होता है कि यदि यह आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो फिर यह सारा रोना-धोना क्यों चल रहा है? आत्मा ज्ञानस्वरूप है और प्रत्यय के द्वारा अनुपश्य है। प्रत्यय

कहते हैं उसकी प्रतीती के आधार को, इसमें भिन्न-भिन्न भाव हैं जिनको समझने के लिए इसकी अभिव्यक्ति के माध्यम को समझना पड़ेगा। शुद्ध आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है वह बिना किसी माध्यम के प्रकट नहीं हो सकता। बिजली और अग्नि का कोई रंग नहीं है पर कभी भी किसी ने इन्हें बिना रंग के नहीं देखा। बिजली की अभिव्यक्ति माध्यम के द्वारा होती है। माध्यम का रंग ही बिजली का रंग बन जाता है। यदि बल्ब लाल होगा तो प्रकाश लाल होगा, यदि बल्ब हरा होगा तो प्रकाश हरा होगा यानी जिस प्रकार का बल्ब आपने लगाया बिजली ने वही रंग अपना लिया। यदि आप मनन करेंगे तो पता चलेगा। इसीप्रकार आत्मा बिल्कुल शुद्ध है, केवल प्रकाश मात्र है। जब हम आत्मा को देखते हैं तो किसी माध्यम से देखते हैं। उपनिषद् कहती है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।

—कठ० २/२-९

जैसे अग्नि अनेक रूपों में प्रकट होती है परन्तु अनेक रूपों में प्रकट होते हुए भी वह शुद्ध रूप में है, इसी प्रकार आत्मा का अनेक रूपों में प्रकट होने के पश्चात् भी उसकी शुद्धता में कोई अन्तर नहीं आता। इसी सम्बन्ध में एक दूसरा उदाहरण है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न
लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

—कठ० २/२-११

सूर्य समस्त जीवों की आँख है लेकिन यह आँख के दोष से लिपायमान नहीं होता, उसी रूप से परमात्मा समस्त प्रणियों की आत्मा है लेकिन उनके मन, चित्त और शरीर के दोष से दूषित नहीं होता। यह बात उपनिषदों में बताई गई है और इसी बात को महर्षि पतञ्जलि कह रहे

हैं कि वह शुद्ध और पवित्र है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति किसी माध्यम से ही होती है, इसलिए वह किसी माध्यम से जाना जाता है। जिस माध्यम से वह प्रकट होता है उस माध्यम का गुण-दोष उसके साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। अग्नि में कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध नहीं है। यदि आप अग्नि में अगर डाल देंगे तो सुगन्ध आने लगेगी। यदि चमड़ा डाल देंगे तो दुर्गन्ध आने लगेगी। सुगन्ध और दुर्गन्ध अग्नि का धर्म नहीं है, ईंधन का धर्म है जो कि उसका माध्यम है। जिस प्रकार माध्यम का गुण-दोष हम अग्नि के साथ जोड़ देते हैं, इसी प्रकार चित्त का गुण-दोष हम आत्मा के साथ जोड़ देते हैं क्योंकि आत्मा चित्त के माध्यम से ही प्रकट होती है। चित्त शुद्ध हो जाने पर आत्मा के व्यवहार में भी शुद्धता आ जाती है इसलिए ये चित्त शुद्धि के ही सारे साधन हैं आत्मा शुद्धि के नहीं। यहाँ पर बता रहे हैं कि द्रष्टा प्रत्यय के माध्यम से देखा जाता है और उसी में दोष आता है आत्मा में नहीं। आत्मा तो परम पवित्र है। आगे के सूत्र में कहा गया है—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

—यो०सू० २/२१

यह सारा दृश्य जगत् का वैभव आत्मा के लिए है। तुलसीदास जी ने एक दोहा लिखा है—

अरब खरब लो द्रव्य हों उदय अस्त लों राज।
तुलसी ज्यों निज मरन है तो आवै केहीं काज॥

उदय से अस्त तक आपको राज दे दिया जाए, आपको असीम धन दे दिया जाए लेकिन उसके बदले में आपके प्राण ले लिए जाएँ तो वह राज और धन आपके किस काम का? बृहदारण्यकोपनिषद् में एक प्रसंग आता है कि याज्ञवल्क्य ऋषि ने पुरस्कार में राजाओं से बहुत सा धन प्राप्त किया था। एक दिन उन्होंने अपना सारा धन अपनी दोनों

स्त्रियों मैत्रेई और कात्यायनी में बाँटकर कहा कि मैं संन्यास लेने जा रहा हूँ। कात्यायनी ने अपना भाग ले लिया परन्तु मैत्रेई ने विचार किया कि हम दोनों स्त्रियाँ सुन्दर भी हैं, आज्ञाकारिणी भी हैं, हममें सेवाभाव भी है, योग्यता भी है और इतना धन है कि जिसकी कोई बराबरी नहीं है। इतने सुख के साधन होते हुए भी हमारे पतिदेव इसे छोड़कर जा रहे हैं। इसका अभिप्राय है कि इससे भी और कोई बड़ा सुख का साधन होगा। मैत्रेई के पूछने पर ऋषि ने बताया कि इससे भी बड़ा सुख है जिसके लिए मैं जा रहा हूँ। मैत्रेई ने कहा कि जो धन आप मुझको देकर जा रहे हो, क्या मैं इससे अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा कि नहीं यह तुम्हें सुविधा दे सकता है, अमरता नहीं। मैत्रेई ने कहा कि जिसके द्वारा मैं मृत्यु से बच नहीं सकती उसको लेकर मैं क्या करूँगी? मुझे तो आप वह तत्त्व बताईये जिससे मैं मृत्यु से बच सकूँ। याज्ञवल्क्य ने उसकी प्रशंसा की और कहा कि सही में तुम मेरी अर्द्धाङ्गिनी हो, तत्त्व विज्ञान की पात्र हो और उन्होंने उसे तत्त्व विज्ञान का उपदेश दिया—

आत्मकामाय इदं सर्वप्रियं भवति।

इस दुनिया की प्रियता आत्मा के नाते है, जब आत्मा शरीर को छोड़ जाता है तो हम शरीर को प्यार नहीं करते। तुलसीदास के शब्दों में यदि दुनिया का सारा वैभव आपको दे दिया जाए और आपसे इसके बदले में आत्मा ले ली जाए तो वह वैभव आपके किस काम आएगा। सारे दृष्य जगत का वैभव आत्मा अर्थात् पुरुष के लिए है। यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा इस शरीर में है तो इसका उपयोग है, यदि वह नहीं है तो नहीं है। आत्मा का प्रथम स्थान है शेष सारे जगत का वैभव उस आत्मा के प्रयोग के लिए हैं। यह याद रहे संसार की सम्पति पर आपका प्रयोगाधिकार होना चाहिए, सत्त्वाधिकार नहीं। यदि प्रयोगाधिकार समझेंगे तो आप आनन्द लेंगे यदि सत्त्वाधिकार समझेंगे तो रोएँगे। जहाँ हमारा प्रयोगाधिकार

होता है वहाँ भय नहीं होता, चिन्ता नहीं होती। सत्त्वाधिकार होते ही सारे रोने आ जाते हैं। सत्त्वाधिकार भ्रम है, प्रयोगाधिकार यथार्थ है। यही योगदर्शन कहता है कि सारे दृश्य की आत्मा तो तुम्हारे लिए है, तुम इसका भोग करते हुए इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करो। यह द्रष्टा भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि तुम इसको समझोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। यही योगदर्शन का मानव के लिए मूल संदेश है।

हरि ॐ तत्सत्

हमारे प्रकाशन

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय १ एवं २)
श्री चण्डिकाशतक • श्री श्यामशतक
मानस में धर्मरथ • रामो विग्रहवान् धर्मः
मानस महाकाव्य में नारी • गीता तत्त्व बोध
मानस के मोती • जीवन विज्ञान • भारत की आत्मा
सहज समाधि भली • योग पथ
नारी! तुलसी की दृष्टि में • शिव तत्त्व बोध
क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है? • राम नाम महिमा
ब्रह्मविद्या विज्ञान-प्रथम • ब्रह्मविद्या विज्ञान—द्वितीय
तत्त्व चिन्तन • सन्त सन्देश • भक्ति दर्शन (नारद भक्ति सूत्र)
हिन्दू धर्म सूत्र • गीतोक्त बुद्धियोग
काव्य सुधा • श्री शिव शतक
Yoga for life • The Hindu & its way of life
How to be a Yogi • Towards Divinity
Essence of Gita • Basic Principles of Yoga
श्री हनुमत विनय पच्चीसी
गीता ज्ञान विज्ञान योग
आपकी अपनी बात
योगाकुंर • साधना सूत्र • गीता कर्म विज्ञान • समाधान
विश्व को हिन्दुओं का योगदान • मानस में वैदिक सिद्धान्त
सन्त लक्ष्ण • श्री हनुमत हृदय • संस्कृत भाषा का महत्त्व
Science of the Absolute Knowledge (Commentary on Ishopanishad)
Lord Hanuman-Our Ideal • Meditation Technique

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका

सम्पर्क सूत्र

- ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर,
  पिंजौर (हरियाणा) पिन-१३४१०२
  फोन: ०१७३३-६५१७०, ६५२७०, ६५२०५
- ब्रह्मर्षि योगाश्रम
  २८-बी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
  दिल्ली-११००३२
  फोन: ०११-२२७३६६०, २२७१९४३
- ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
  माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
  फोन : ०१६१-७००१४१
- ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
  (अंग्रेजी मीडियम)
  बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना
  फोन : ०१६१-६६६४०६, ६०८४०६
- श्री गीता रामायण सेवा संघ
  अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
  उदयपुर (राजस्थान)
  फोन : ०२९४-४१४१४०
- Metaphysical Science
  Research Institute
  Sec.19-A, Chandigarh
  Phone : 0172/775390
- Brahmrishi Misson
  278, Heston Road, Heston
  Middlesex TW5 ORT U.K.
  Phone : 0181-571-3879
- Brahmrishi Ashram
  717, Loosduinseweg,
  2571 AM-Denhaag, Nederland,
  Ph.: 070-3620961
- Brahmriahi Mission of CANADA
  Shri-Ram-Dham Hindu Temple
  525 Bridge Street,
  East Kitchener, Ontario
  CANADA N2K3C5
  Phone : (519) 579-1486
- Brahmrishi Ashram
  1246, North Mantua Street, Kent,
  Ohio- 44240, U.S.A..
  Phone : 330-678-3793
- ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम
  पुरी फार्म्स, जोड़ियां, रादौर रोड,
  यमुनानगर-१३५००१ (हरियाणा)
  फोन : ०१७३२-८९८४६
- Brahmrishi Mission School
  Jarar, Devvan, Piplaage
  Bhunter, Kullu (H.P.)
  Ph. 01902-65518,66043
- ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
  चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
  वाराणसी (उ०प्र०)
- ब्रह्मर्षि बावरा शन्ति विद्यापीठ
  दीनानगर, धार रोड, उधमपुर (जे०के०)
  फोन :०१९९२-७१०८०
- ब्रह्मर्षि योगाश्रम
  बाईपास, ऋषिकेश रोड,
  भूपतवाला,
  हरिद्वार (उ०प्र०)

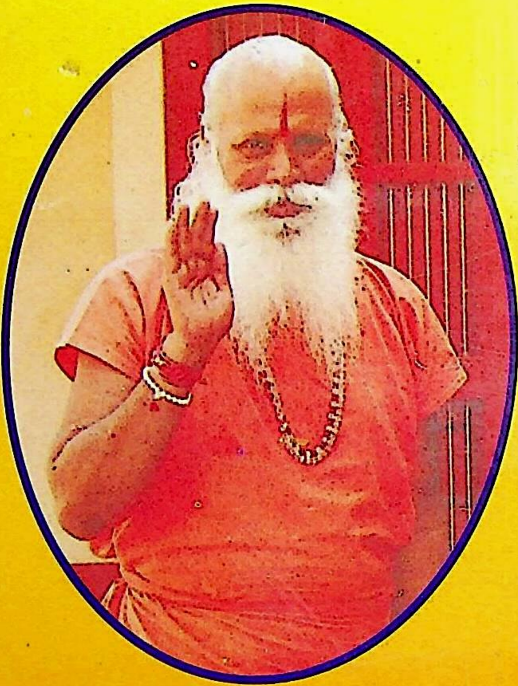

"स्थिर चित्त में ही विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है"

दिव्यालोक प्रकाशन